ACKNOWLEDGEMENT

We sincerely express our gratitude to **"Teerthdham Mangalayatan"** from where we have sourced **"Bhed Vigyansaar"**

"Teerthdham Manglayatan"have taken due care, However, if you find any typographical error, for which we request all the reader to kindly inform us at info@vitragvani.com or to "**Teerthdham Mangalayata**" at Info@mangalayatan.com

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

भेदविज्ञानसार

परम पूज्य भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार की गाथा 390 से 404 पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचन

गुजराती सङ्कलन
ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
सोनगढ़

हिन्दी अनुवाद
मगनलाल जैन
ललितपुर

सम्पादन
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन

प्रकाशन सहयोग :
श्री अश्विनभाई मनोजभाई शाह
मलाड (ईस्ट), मुम्बई

प्रकाशक :
तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
सासनी-204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
21 अक्टूबर 2011, तीर्थधाम मङ्गलायतन में आयोजित भगवान श्री महावीरस्वामी निर्वाणोत्सव एवं पुरुषार्थमूर्ति श्री निहालचन्द्रजी सोगानी के जन्म शताब्दी वर्ष के अवसर पर

ISBN NO. :

न्यौछावर राशि : 25.00 रुपये मात्र

AVAILABLE AT -

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN**
Sasni - 204216, Hathras (U.P.) India
e-mail : info@mangalayatan.com

— **PANDIT TODARMAL SMARAK BHAWAN**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur - 302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH,**
SHREE KUNDKUND-KAHAN PARMARTHIK TRUST,
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30, Navyug CHS Ltd.,
V.L. Mehta Marg, Vile Parle (W),
Mumbai - 400056
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **SHRI KUNDKUND KAHAN JAIN SAHITYA KENDRA**
Songarh (Guj.)

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :
देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के वस्तु परिणमन की स्वतन्त्रता के दिग्दर्शक मङ्गल प्रवचनों का अद्भुत सङ्कलन **भेदविज्ञानसार** सद्धर्म प्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए, हमे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। परम पूज्य भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत जगतचक्षु परमागम समयसार की गाथा 390 से 404 पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री के भेदविज्ञान मूलक प्रवचनों का इस ग्रन्थ में प्रकाशन किया जा रहा है। इन प्रवचनों का पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में वर्षों पूर्व प्रकाशन श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ द्वारा हिन्दी एवं गुजराती में किया गया था, जो अब अनुपलब्ध है, इसलिए आत्मकल्याण के मूलभूत कारण भेदविज्ञान का स्वरूप समझाने में निमित्तभूत इन प्रवचनों का पुन: प्रकाशन किया जा रहा है।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयं बुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, अपितु उसे प्राप्त भी किया और प्रचारित भी किया। आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता।

विक्रम सम्वत् 1978 की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासन स्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित समयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया? क्या नहीं छोड़ा? भगवान समयसार स्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्यामताग्रह का विष छोड़ा। तभी से लगातार 45 वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अविस्मरणीय प्रभावना हुई, वह आज देश-विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी

वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में प्रकाशित होकर, इस पञ्चम काल के अन्त तक भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कुलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान महावीर के जीव मात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार-प्रसार में संलग्न है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन भी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रभावना उदयरूपी वटवृक्ष की एक शाखा है। अत्यन्त अल्पकाल में इस तीर्थधाम ने न मात्र जैन, अपितु जैनेतर समाज के हृदय में भी अपना अमिट प्रभाव स्थापित किया है। सत्य तो यह है कि **तीर्थधाम मङ्गलायतन** पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं बहिनश्री चम्पाबेन के तत्त्वज्ञान का प्रभापुञ्ज ही है।

सत्साहित्य का प्रकाशन भी **तीर्थधाम मङ्गलायतन** की कई कल्याणकारी योजनाओं में से एक है। इसी के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ **'भेदविज्ञानसार'** प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में समागत प्रवचनों का गुजराती सङ्कलन बाल ब्रह्मचारी हरिभाई जैन, सोनगढ़ द्वारा एवं हिन्दी अनुवाद श्री मगनलाल जैन, ललितपुर द्वारा किया गया है। तदर्थ हम इनके आभारी हैं। इस प्रवचन ग्रन्थ का सुव्यवस्थित सम्पादन कार्य **मङ्गलायतन** के विद्वान् पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलिया द्वारा सम्पन्न किया गया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें प्रकाशनकर्ता के रूप में **श्री अश्विनभाई मनोजभाई शाह, मलाड, मुम्बई** का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। तदर्थ हम उनके आभारी हैं।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचन ग्रन्थ का स्वाध्याय करके निज आत्महित साधें - यही भावना है।

पवन जैन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान
दिगम्बर जैन ट्रस्ट

प्रस्तावना

यह 'भेदविज्ञानसार' पुस्तक अपने नाम के अनुसार वास्तव में भेदविज्ञान का उपाय बतलाती है। भेदविज्ञान का अपरम्पार माहात्म्य है और वह अपूर्व है। अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव ने शास्त्रान-व्रत-तप-त्याग आदि सब कुछ किया है, किन्तु भेदविज्ञान कभी एक क्षणमात्र भी नहीं किया। पूज्य श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि यदि जीव एक क्षणमात्र भी स्व-पर का भेदविज्ञान करे तो उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे। एक क्षणमात्र का भेदविज्ञान अनन्त जन्म-मरण का नाश करता है।

परम पूज्य श्री कानजीस्वामी अपनी अपूर्व वाणी और परमश्रुत द्वारा जगत के जीवों को भेदविज्ञान का स्वरूप निरन्तर दर्शा रहे हैं। उनके उपदेश की अमृतधारा धार्मिक उत्सव के प्रसङ्ग पर तो एक महान प्रवाह का रूप धारण कर लेती है। महान प्रवाहरूप से बहती हुई वह अमृतवाणी श्रोताजनों की महान अज्ञानरूपी शिलाओं को भी चूर-चूर कर देती है। वीर संवत् २४७४ के धार्मिक उत्सव के समय पूज्य स्वामीजी की वाणी का जो महान प्रवाह बहा था, उसमें से यह एक छोटा-सा प्रवाह भर लिया गया है। जो जीव इसका पान करेंगे उनकी आत्मतृषा अवश्य ही शान्त होगी।

इस भेदविज्ञानसार में आये हुए प्रवचन श्री समयसारजी गाथा 390 से 404 पर के हैं। सूक्ष्मज्ञान के अभाव से प्राथमिक अभ्यासी को ऐसा लगता है कि व्याख्यान में एक की एक बात आती है। इसलिए प्रवचन में जहाँ-जहाँ न्यायों की शैली में परिवर्तन होता है, उस जगह नये-नये हेडिंग दिये गये हैं; इससे पाठकों को सरलता होगी। इन व्याख्यानों में अनेक प्रकार के न्याय भरे होने पर भी उनके मूलभूत विषय की धारा प्रारम्भ से अन्त तक एक-सी चलती रही है। सर्व परद्रव्यों और परभावों से आत्मा का भिन्नत्व और अपने

ज्ञानस्वभाव से एकत्व समझकर अपूर्व भेदविज्ञान प्रगट करना, वह पूज्य स्वामीजी के सर्व प्रवचनों का तात्पर्य है।

भेदविज्ञान प्रगट करने की तैयारीवाले जीव को देशनालब्धि अवश्य होती है। सत्समागम के बिना मात्र शास्त्राभ्यास से वह देशनालब्धि नहीं हो सकती। किसी आत्मानुभवी पुरुष के पास से धर्मदेशना का साक्षात् श्रवण किये बिना कोई भी जीव शास्त्र पढ़कर भेदविज्ञान प्रगट नहीं कर सकता; इसलिए जिन आत्मार्थियों को अति महिमावन्त भेदविज्ञान प्रगट करके इन संसार दुःखों से परिमुक्त होना हो, उन्हें सत्समागम से उपदेश श्रवण करके तत्त्व का निर्णय करना चाहिए। भेदविज्ञान ही इस जगत में सारभूत है। भेदविज्ञान से रहित जो कुछ भी है, वह सब असार है। इसलिए आत्मार्थियों को प्रतिक्षण इस भेदविज्ञान की भावना करने योग्य है।

रामजी माणेकचन्द दोशी

वीर संवत् 2475
आषाढ़ शुक्ल द्वितीय

प्रमुख
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़

सम्पादकीय

परम पूज्य भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित परमागम समयसार के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में समागत गाथा 390 से 404 पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के भेदविज्ञानरसपूर्ण मङ्गल प्रवचनों का सङ्कलन **'भेदविज्ञानसार'** सद्धर्मप्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

कालचक्र के अविरल प्रवाह में हुए अनन्त तीर्थङ्करों की पावन परम्परा में इस कल्पकाल में भगवान आदिनाथ से महावीर तक चौबीस तीर्थङ्कर हुए। उनकी परम्परा में आत्मानुभवी समतारस के पिण्ड अनेक वीतरागी सन्त हुए।

आज से लगभग 2000 वर्ष पहले जैनशासन के स्तम्भसमान भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव हुए, जिन्हें विदेहक्षेत्र में विराजमान भगवान सीमन्धरस्वामी की दिव्यदेशना का रसपान करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। आठ दिन तक विदेहक्षेत्र में वैदेही आत्मस्वरूप की आनन्ददायिनी चर्चा का रसपान करके, करुणामूर्ति आचार्यश्री स्वदेश पधारे और भक्तों को दिये.... पञ्च परमागम।

श्रीसमयसार, श्रीप्रवचनसार, श्रीनियमसार, श्रीपञ्चास्तिकाय, एवं श्रीअष्टपाहुड। इन पञ्च परमागमों में सम्पूर्ण दिव्यध्वनि का सार गूँथकर आचार्यदेव ने पञ्चम काल में तीर्थङ्करवत् कार्य किया है। इस उपकार के लिए भरतक्षेत्र के भव्यजीव आपश्री के चिर ऋणी रहेंगे।

पञ्च परमागमों में से शुद्धात्मा का स्वरूप दर्शानेवाला समयसार-परमागम अद्भुत है। जिसे आज से एक हजार वर्ष पूर्व हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव, जगत्चक्षु कहते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने आचार्य कुन्दकुन्ददेव कृत प्राभृतत्रय – समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय पर टीका रचकर, इस काल में मानों गणधर जैसा कार्य किया है।

ग्रन्थाधिराज समयसारपरमागम पर, अत्यन्त सरलतम संस्कृतभाषा में लिखी हुई आचार्य जयसेन एवं प्रभाचन्द्राचार्य की टीका भी उल्लेखनीय है। परवर्ती आचार्यों की लेखनी को अध्यात्म की धारा में परिवर्तित करने के लिये, समयसार की महती भूमिका को नकारा नहीं जा सकता।

वर्तमान में पूज्य गुरुदेवश्री, समयसार के पर्यायवाची हैं; उन्होंने विक्रम संवत् 1978 में सर्व प्रथम समयसार प्राप्त करके, अपने को धन्य अनुभव किया और सहज ही उनके अन्त:स्थल से यह उदगार प्रस्फुटित हुए कि **अहो! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है!** और तभी से उनका अन्तर्मन समयसार की गहराईयों में गोते खाने लगा। उन्होंने अपने जीवन में सैकड़ों बार इस ग्रन्थ का पारायण तो किया ही... सभा में सार्वजनिकरूप से 19 बार इस ग्रन्थ पर आद्योपान्त प्रवचन प्रदान किये। सच में गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की अमृतवाणी का सुयोग पाकर, यह परमागम आज जन-जन की आस्था का केन्द्र बन चुका है।

गुरुदेवश्री ने समयसार पाकर क्या नहीं पाया ?.... समयसार पाकर क्या नहीं खोया ?... समयसार पाकर उन्होंने पाया... निज शुद्धात्मा..... समयसार पाकर उन्होंने पाया.... शाश्वत् सुख का स्वानुभूति प्रधान वीतरागीमार्ग.... उन्होंने खोया मिथ्यात्व और मिथ्यात्व से युक्त गुरुपना।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सौराष्ट्र के कोहिनूर माने जानेवाले गुरुदेव ने मात्र समयसार को पाकर इस महान प्रतिष्ठा को तिलांजलि देकर, तीर्थधाम स्वर्णपुरी में एकाकी निवास किया। उनकी पवित्रता और पुण्य के सातिशययोग ने, आज उन्हें जिनशासन का सजग प्रहरी बना दिया है.... वे लाखों लोगों के पथ-प्रदर्शक हैं; उन्होंने अज्ञान अन्धकार से त्रस्त एवं धर्म के नाम पर मिथ्या क्रियाकाण्ड के आडम्बर में डूबे हुए जगत को, शुद्धात्मानुभूति के सुखद वायुमण्डल में, उन्मुक्त जीवन जीने की कला सिखायी है।

समयसार परमागम के संवर अधिकार में आचार्यदेव ने कहा है कि आत्मा की उपलब्धि से संवर होता है और भेदविज्ञान से आत्मा की उपलब्धि होती है। इस प्रकार भेदविज्ञान धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने तो यहाँ तक कह दिया है कि जो कोई आज तक सिद्ध हुए हैं,

वे भेदविज्ञान से हुए हैं और जो जीव बँधे हैं, वे भेदविज्ञान के अभाव से बँधे हैं। आचार्यश्री के इन कथनों से भेदविज्ञान की उपयोगिता सहज सिद्ध है।

यह अज्ञानी जीव निज चैतन्यसत्ता को भूलकर शरीरादि परद्रव्यों एवं रागादि परभावों में अपनेपन की मिथ्या मान्यता से विमोहित होकर संसार परिभ्रमण करता है। वास्तविकता यह है कि भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप निर्लेप शुद्ध पवित्र सत्ता है, इससे बाह्य जितने भी परद्रव्य तथा परभाव हैं, वे उसकी चैतन्यसत्ता से बाहर ही रहते हैं। समयसार परमागम की इन 390 से 404 गाथाओं में पुद्गल के विभिन्न गुण-पर्यायों; धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, आकाश, कर्म इत्यादि से सम्पूर्ण भिन्नता का भाववाही वर्णन किया है। जिसे पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने अध्यात्मरसपूर्ण शैली में स्पष्ट किया है। उन्हीं प्रवचनों का सम्पादित सङ्कलन प्रस्तुत ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन पूर्व में अनेक बार हिन्दी और गुजराती भाषा में सोनगढ़ ट्रस्ट से प्रकाशित हो चुका है, तथापि वर्तमान समय में अनेक वर्षों से यह ग्रन्थ अनुपलब्ध था, अतः इसके पुनः प्रकाशन की भावना से आवश्यक सम्पादन के साथ प्रकाशन किया जा रहा है।

इन प्रवचनों के सम्पादन में जो-जो कार्य किया गया है, वह इस प्रकार है -

- ग्रन्थ के प्रारम्भ में मूल गाथाएँ, हरिगीत, अन्वयार्थ एवं टीका दिये गये हैं।
- रूप, रस, गन्ध आदि से भेदविज्ञान के प्रकरण के प्रारम्भ में तत्सम्बन्धी मूल वाक्य बॉक्स में दिया गया है।
- ग्रन्थ में समागत हैडिंगों में अपेक्षित संशोधन किया गया है।
- सम्पूर्ण प्रवचनों को गुजराती के साथ अनुवाद की दृष्टि से मिलाकर, आवश्यक संशोधन किये गये हैं।
- लम्बे-लम्बे गद्यांशों को छोटा किया गया है।
- भाषा को सरल-प्रवाहमयी बनाने का यथासम्भव प्रयास किया गया है।
- मूल प्रवचन ग्रन्थ के अन्त में इन गाथाओं का मात्र भावार्थ दिया गया है, जबकि प्रस्तुत प्रकाशन में इस भावार्थ पर हुए प्रवचन, प्रवचन रत्नाकर, भाग-10 में से अनुवाद करके दिये गये हैं।

इन सभी कार्यों के शक्तिप्रदाता परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ही हैं, उनका ही सबकुछ इस ग्रन्थ में है। साथ ही मुझे पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्ति उत्पन्न कराने में निमित्तभूत, मेरे विद्यागुरु एवं पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्यभक्त पण्डित श्री कैलाशचन्दजी, अलीगढ़ हैं, जिनके पावन सान्निध्य में रहकर, मुझे तत्त्वज्ञान सीखने का अवसर प्राप्त हुआ है। मेरे जीवनशिल्पी इन दोनों महापुरुषों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन कार्य का अवसर प्रदान करने हेतु **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ vitragvani.com पर भी उपलब्ध है।

सभी आत्मार्थीजन, गुरुदेवश्री की इस महा मङ्गलवाणी का अवगाहन करके अनन्त सुखी हों – इस पावन भावना के साथ।

देवेन्द्रकुमार जैन

ॐ

॥ परमात्मने नमः ॥

भेदविज्ञानसार

**(समयसार, गाथा 390 से 404 पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन)**

ज्ञानस्वभाव की स्वतन्त्रता की घोषणा

समयसार की इन पन्द्रह गाथाओं में ज्ञान की समय-समय की स्वतन्त्रता की घोषणा है। आत्मा का ज्ञान, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है; इसलिए उस पर किसी की सत्ता नहीं है और उसे किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता नहीं है। आत्मा का परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव समस्त परपदार्थों से एकदम पृथक् है। आत्मा का ज्ञान, आत्मा में है; अन्य में नहीं है।

आत्मा स्वयं ज्ञान है। आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान है और पर में किञ्चित् भी ज्ञान नहीं है; इसलिए ज्ञान, आत्मा से ही होता है, पर से नहीं होता — ऐसे अनेकान्तस्वभाव का वर्णन करके श्री आचार्यदेव ने इन गाथाओं में ज्ञानस्वभाव के स्वातन्त्र्य की घोषणा की है। शास्त्र इत्यादि परद्रव्य ज्ञान नहीं है, इसलिए वे ज्ञान का किञ्चित्मात्र कारण नहीं है। आत्मा स्वयं ज्ञान है; अत: वही ज्ञान का कारण है।

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बेंति॥ 390॥
सद्दो णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा बेंति॥ 391॥
रूवं णाणं ण हवदि जम्हा रूवं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा बेंति॥ 392॥
वणो णाणं ण हवदि जम्हा वण्णो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा बेंति॥ 393॥
गंधो णाणं ण हवदि जम्हा गंधो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा बेंति॥ 394॥
ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा बेंति॥ 395॥
फासो ण हवदि णाणं जम्हा फासो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा बेंति॥ 396॥
कम्मं णाणं ण हवदि जम्हा कम्मं ण याण दे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा बेंति॥ 397॥
धम्मो णाणं ण हवदि जम्हा धम्मो ण याण दे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा बेंति॥ 398॥
णाणमधम्मो ण हवदि जम्हाधम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा बेंति॥ 399॥
कालो णाणं ण हवदि जम्हा कालो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा बेंति॥ 400॥
आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणदे किंचि।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा बेंति॥ 401॥

णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥ 402 ॥
जम्हा जाणदि णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥ 403 ॥
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा ॥ 404 ॥

शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्रं न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना ब्रुवन्ति ॥ 390 ॥
शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना ब्रुवन्ति ॥ 391 ॥
रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपं जिना ब्रुवन्ति ॥ 392 ॥
वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना ब्रुवन्ति ॥ 393 ॥
गंधो ज्ञानं न भवति यस्माद्गन्धो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं गंधं जिना ब्रुवन्ति ॥ 394 ॥
न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानं रसं चान्यं जिना ब्रुवन्ति ॥ 395 ॥
स्पर्शो न भवति ज्ञानं यस्मात्स्पर्शो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना ब्रुवन्ति ॥ 396 ॥
कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना ब्रुवन्ति ॥ 397 ॥
धर्मो ज्ञानं न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना ब्रुवन्ति ॥ 398 ॥
ज्ञानमधर्मो न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यमधर्मं जिना ब्रुवन्ति ॥ 399 ॥

कालो ज्ञानं न भवति यस्मात्कालो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं कालं जिना ब्रुवन्ति॥ 400॥
आकाशमपि न ज्ञानं यस्मादाकाशं न जानाति किंचित्।
तस्मादाकाशमन्यदन्यज्ज्ञानं जिना ब्रुवन्ति॥ 401॥
नाध्यवसानं ज्ञानमध्यवसानमचेतनं यस्मात्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमध्यवसानं तथान्यत्॥ 402॥
यस्माज्जनाति नित्यं तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी।
ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यम्॥ 403॥
ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं सूत्रमंगपूर्वगतम्।
धर्माधर्मं च तथा प्रव्रज्यामभ्युपयान्ति बुधाः॥ 404॥

रे! शास्त्र है नहिं ज्ञान क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शास्त्र-अन्य प्रभू कहे॥ 390॥
रे! शब्द है नहिं ज्ञान, क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शब्द अन्य-प्रभू कहे॥ 391॥
रे! रूप है नहिं ज्ञान, क्योंकि रूप कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु रूप अन्य प्रभू कहे॥ 392॥
रे! वर्ण है नहिं ज्ञान, क्योंकि वर्ण कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु वर्ण अन्य-प्रभू कहे॥ 393॥
रे! गंध है नहिं ज्ञान, क्योंकि गंध कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु गंध अन्य प्रभू कहे॥ 394॥
रे! रस नहीं है ज्ञान, क्योंकि रस जु कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु अन्य रस-जिनवर कहे॥ 395॥
रे! स्पर्श है नहिं ज्ञान, क्योंकि स्पर्श कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु स्पर्श अन्य-प्रभू कहे॥ 396॥
रे! कर्म है नहिं ज्ञान, क्योंकि कर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु कर्म अन्य-जिनवर कहे॥ 397॥

रे! धर्म नहिं है ज्ञान, क्योंकि धर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु धर्म अन्य – जिनवर कहे ॥ 398 ॥
नहिं है अधर्म जु ज्ञान, क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य अधर्म अन्य–जिनवर कहे ॥ 399 ॥
रे! काल है नहिं ज्ञान, क्योंकि काल कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु काल अन्य–प्रभू कहे ॥ 400 ॥
आकाश है नहिं ज्ञान, क्योंकि आकाश कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से आकाश अन्य रु ज्ञान अन्य प्रभू कहे ॥ 401 ॥
रे! ज्ञान अध्यवसान नहिं, क्योंकि अचेतन रूप है।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु अन्य अध्यवसान है ॥ 402 ॥
रे! सर्वदा जाने हि इससे जीव ज्ञायक हानि है।
अरु ज्ञान है ज्ञायक से अव्यतिरिक्त यों ज्ञातव्य है ॥ 403 ॥
सम्यक्त्व, अरु संयम, तथा पूर्वांगगत सब सूत्र जो।
धर्माधरम, दीक्षा सबहि, बुध पुरुष माने ज्ञान को ॥ 404 ॥

अर्थात् शास्त्र, ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं, (वह जड़ है); इसलिए ज्ञान अन्य है, शास्त्र अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं। शब्द, ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है, शब्द अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं। रूप, ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है, रूप अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं। वर्ण, ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है, वर्ण अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं। गन्ध, ज्ञान नहीं है क्योंकि गन्ध कुछ जानती नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है, गन्ध अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं। रस, ज्ञान नहीं है क्योंकि रस कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और रस अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं। स्पर्श, ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ जानता नहीं है; इसलिए

ज्ञान अन्य है, स्पर्श अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं। कर्म, ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है, कर्म अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं। धर्म (धर्मास्तिकाय), ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है, धर्म अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं। अधर्म (अधर्मास्तिकाय), ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है, अधर्म अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं। काल, ज्ञान नहीं है क्योंकि काल कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है, काल अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं। आकाश भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है, आकाश अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं। अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिए ज्ञान अन्य है तथा अध्यवसान अन्य है (– ऐसा जिनदेव कहते हैं)।

क्योंकि (जीव) निरन्तर जानता है, इसलिए ज्ञायक ऐसा जीव ज्ञानी (ज्ञानवाला, ज्ञानस्वरूप) है, और ज्ञान, ज्ञायक से अव्यतिरिक्त है ('अभिन्न' है, जुदा नहीं) ऐसा जानना चाहिए।

बुध पुरुष (अर्थात् ज्ञानी जन) ज्ञान को ही सम्यग्दृष्टि, (ज्ञान को हो) संयम, अङ्गपूर्वगत सूत्र, और धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) तथा दीक्षा मानते हैं।

टीका : श्रुत (अर्थात् वचनात्मक द्रव्यश्रुत) ज्ञान नहीं है क्योंकि श्रुत अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और श्रुत के व्यतिरेक (अर्थात् भिन्नता) है। शब्द, ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द (पुद्‌गलद्रव्य की पर्याय है,) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और शब्द के व्यतिरेक (अर्थात् भेद) है। रूप, ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप (पुद्‌गलद्रव्य का

गुण है), अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और रूप के व्यतिरेक है (अर्थात् दोनों भिन्न हैं)। वर्ण, ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण (पुद्गलद्रव्य का गुण है), अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और वर्ण के व्यतिरेक है (अर्थात् ज्ञान अन्य है, वर्ण अन्य है)। गन्ध, ज्ञान नहीं है क्योंकि गन्ध (पुद्गलद्रव्य का गुण है,) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और गन्ध के व्यतिरेक (भेद, भिन्नता) है। रस, ज्ञान नहीं है क्योंकि रस (पुद्गलद्रव्य का गुण है,) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और रस के व्यतिरेक है। स्पर्श, ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श (पुद्गलद्रव्य का गुण है,) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और स्पर्श के व्यतिरेक है। कर्म, ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और कर्म व्यतिरेक है। धर्म (धर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और धर्म के व्यतिरेक है। अधर्म (अधर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और अधर्म के व्यतिरेक है। काल (कालद्रव्य) ज्ञान नहीं है क्योंकि काल अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और काल के व्यतिरेक है। आकाश (आकाशद्रव्य) ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और आकाश के व्यतिरेक है। अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और (कर्मोदय की प्रवृत्तिरूप) अध्यवसान के व्यतिरेक है। इसलिए यों ज्ञान का समस्त परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक निश्चयसाधित देखना चाहिए (अर्थात् निश्चय से सिद्ध हुआ समझना-अनुभव करना चाहिए)।

अब, जीव ही एक ज्ञान है क्योंकि जीव चेतन है; इसलिए ज्ञान के और जीव के अव्यतिरेक (अभेद) है और ज्ञान का जीव के

साथ व्यतिरेक किञ्चित्मात्र भी शङ्का करने योग्य नहीं है (अर्थात् ज्ञान की जीव से भिन्नता होगी – ऐसी जरा भी शङ्का करने योग्य नहीं है) क्योंकि जीव स्वयं ही ज्ञान है। ऐसा (ज्ञान जीव से अभिन्न) होने से, ज्ञान ही सम्यक्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म (अर्थात् पुण्य -पाप) है, ज्ञान ही प्रव्रज्या (दीक्षा, निश्चयचारित्र) है – इस प्रकार ज्ञान का जीव पर्यायों के साथ भी अव्यतिरेक निश्चयसाधित देखना (अर्थात् निश्चय द्वारा सिद्ध हुआ समझना -अनुभव करना) चाहिए।

अब, इस प्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक के द्वारा और सर्व दर्शनादि जीवस्वभावों के साथ अव्यतिरेक के द्वारा अतिव्याप्ति को और अव्याप्ति को दूर करता हुआ, अनादि विभ्रम जिसका मूल है – ऐसे धर्म-अधर्मरूप (पुण्य-पापरूप, शुभ-अशुभरूप) परसमय को दूर करके, स्वयं ही प्रव्रज्यारूप को प्राप्त करके (अर्थात् स्वयं ही निश्चयचारित्ररूप दीक्षाभाव को प्राप्त करके), दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थितिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, मोक्षमार्ग को अपने में ही परिणत करके, जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त किया है ऐसा, त्यागग्रहण से रहित, साक्षात् समयसारभूत, परमार्थरूप शुद्धज्ञान एक अवस्थित (निश्चय) देखना (अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से अनुभव करना) चाहिए।

गाथा 390 से 404 पर प्रवचन

आचार्य भगवान के कथन का जोर

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य के मूल सूत्रों में तीन स्थानों पर विशेष वजन दिया गया है —

1. '**सत्थं ण याणए किंचिं**' अर्थात् शास्त्रादि कुछ नहीं जानते हैं, अर्थात् उनमें पूरी अचेतनता बतलाई है।

2. '**अण्णं णाणं**' अर्थात् उन अचेतन शास्त्रादि से ज्ञान पृथक् है। शास्त्र इत्यादि कुछ नहीं जानते, इस (कथन) के समक्ष आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान है — ऐसा सिद्ध हुआ। आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान है और श्रुतादि में ज्ञान किञ्चित्मात्र नहीं है — इस प्रकार अस्ति-नास्ति से पूर्ण ज्ञानस्वभाव बताया है।

3. '**जिणा विंति**' अर्थात् जिनदेव ऐसा जानते हैं या जिनदेव ऐसा कहते हैं। प्रत्येक गाथा में **जिणा विंति** कहकर सर्वज्ञ भगवान की साक्षी दी है।

अहो! किसी अपूर्व योग में इस समयसार शास्त्र की रचना हुई है। इसकी प्रत्येक गाथा में अचिन्त्य भाव भरे हैं; प्रत्येक गाथा परिपूर्ण आत्मस्वभाव बतला देती है।

ज्ञान को पर का किञ्चित् भी अवलम्बन नहीं

आत्मा स्वयं ज्ञान है और श्रुत-शास्त्रादि अचेतन हैं; आत्मा में ज्ञान परिपूर्ण है और श्रुतादि में किञ्चित् ज्ञान नहीं है। श्रुत में ज्ञान नहीं है और ज्ञान में श्रुत नहीं है; तब फिर भाई! तेरे ज्ञान में श्रुत तुझे क्या सहायता देगा? और तेरा आत्मा, ज्ञान से परिपूर्ण है, तब फिर तेरा ज्ञान, पर की आशा क्यों रखेगा? इसलिए ज्ञान को पर का बिल्कुल अवलम्बन नहीं है; अपने आत्मस्वभाव का ही अवलम्बन है।

इस प्रकार आचार्य भगवान इन पन्द्रह गाथाओं में आत्मा का परिपूर्ण स्वाश्रित ज्ञानस्वभाव बतलाते हैं।

अपने आत्मा का हित करना हो, उसे पर से भिन्न आत्मा को जानना चाहिए

जिसे अपने आत्मा का हित करना है, कल्याण करना है; उसे क्या करना चाहिए? उसका यह अधिकार चल रहा है। प्रथम तो आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान-आनन्द ही उसका स्वभाव है और पर से तथा विकार से वह पृथक् है — जब तक ऐसे आत्मा की श्रद्धा न हो, तब तक शरीर-पैसा-स्त्री-पुत्रादि से हितबुद्धि दूर नहीं होगी और जब तक पर में हितबुद्धि या लाभ-अलाभ की बुद्धि दूर नहीं होगी, तब तक स्वभाव को पहिचानने तथा राग-द्वेष को दूर करके उसमें स्थिर होने का सत्य पुरुषार्थ नहीं करेगा; इसलिए अपना हित चाहनेवाले जीवों को यह जानना चाहिए कि आत्मा का स्वरूप क्या है? उसकी किसके साथ एकता और किसके साथ भिन्नता है? आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह ज्ञान, सुख आदि सबके साथ एकमेक है, और शरीर-पैसा इत्यादि से उसे पृथक्त्व है; राग से भी वास्तव में उसे पृथक्त्व है।

ज्ञान-आनन्दस्वरूप यह आत्मा, पर से भिन्न है — ऐसा कहने से ही आत्मा अपने स्वभाव से परिपूर्ण, स्वाधीन और पर के आश्रय से रहित, निरावलम्बी सिद्ध होता है। ऐसे आत्मा को जानना -मानना ही हित का उपाय है, वही कल्याण है, वही धर्म है, वही मङ्गल है।

प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप है। यह जो शरीर है, सो मैं नहीं हूँ; मैं तो आत्मा हूँ। मेरा आत्मा, ज्ञान से परिपूर्ण है और पर वस्तुओं से भिन्न है। मेरे आत्मा को ज्ञान और आनन्द के लिए किसी परवस्तु की आवश्यकता नहीं है; इस प्रकार अपने ज्ञानानन्द

–स्वभावी आत्मा का स्वीकार किये बिना कोई जीव, धर्म नहीं कर सकता। यह आत्मस्वभाव, आबालवृद्ध सबकी समझ में आ सकता है। प्रत्येक जीव की सुख के लिए ऐसा आत्मस्वभाव ही समझना है। यहाँ पर आचार्यदेव उस स्वभाव को समझाते हैं।

द्रव्यश्रुत से ज्ञान का भिन्नत्व

श्रुत, अर्थात् वचनात्मक द्रव्यश्रुत है, वह ज्ञान नहीं है, क्योंकि श्रुत अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और श्रुत के व्यतिरेक है–भिन्नत्व है।

द्रव्यश्रुत के लक्ष्य से आत्मा का ज्ञान नहीं होता

आत्मा केवल ज्ञाता–दृष्टा, आनन्दस्वभावी है;ह्न उसे समझने में द्रव्यश्रुत निमित्तरूप है; इस कारण सर्व प्रथम उस द्रव्यश्रुत से ज्ञान को भिन्न समझाते हैं। श्री सर्वज्ञ भगवान की दिव्यवाणी, गुरुओं की वाणी अथवा सूत्रों के शब्द — ये सब द्रव्यश्रुत हैं। इनके आधार से इस आत्मा का ज्ञान नहीं होता। साक्षात् सर्वज्ञ भगवान, गुरु या शास्त्र के लक्ष्य में रुकने से जो ज्ञान होता है, वह भी द्रव्यश्रुत है। देव और गुरु के आत्मा का ज्ञान उनमें है परन्तु इस आत्मा का ज्ञान उनमें नहीं है; इसलिए वास्तव में इस आत्मा की अपेक्षा से वे अचेतन है।

जीव अपने स्वभाव की ओर ढलकर जब सच्चा समझता है, तब द्रव्यश्रुत को निमित्त कहा जाता है परन्तु देव–गुरु–शास्त्र की रुचि से आत्मस्वभाव समझ में नहीं आता। देव–गुरु की वाणी से

और शास्त्रों से यह आत्मा पृथक् है। द्रव्यश्रुत तो अचेतन है, उसमें कहीं ज्ञान नहीं भरा है; इसलिए द्रव्यश्रुत से ज्ञान नहीं होता; द्रव्यश्रुत के लक्ष्य से आत्मा समझ में नहीं आता। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभावी है, उस ज्ञानस्वभाव के द्वारा ही आत्मा ज्ञात होता है। अपना ही स्वभाव ज्ञाता है, यह सम्यग्ज्ञान है।

वर्तमान ज्ञान की आत्मा में एकाग्रता ही धर्म

द्रव्यश्रुत से आत्मा भिन्न है, देव-गुरु-शास्त्र से आत्मा भिन्न है; इसलिए उनके लक्ष्य से होनेवाला राग भी द्रव्यश्रुत में आ जाता है। ऐसा समझकर, उस द्रव्यश्रुत की ओर के लक्ष्य को छोड़कर, वर्तमान ज्ञान को अन्तर में रागरहित त्रिकाली ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख करे तो अपना आत्मस्वभाव ज्ञात होता है। वर्तमान ज्ञानपर्याय को पर की ओर एकाग्र करे तो अधर्म होता है और अपने त्रिकाली ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख करके वहाँ एकाग्र करे तो धर्म होता है।

ज्ञानस्वभाव के आधार से ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान है। परद्रव्य, इस आत्मा से पृथक् हैं। उनके लक्ष्य से होनेवाली मन्दकषाय और ज्ञान के आश्रय से सम्यग्ज्ञान नहीं होता और आत्मा समझ में नहीं आता। इतना समझ ले, तब द्रव्यश्रुत से आत्मा को पृथक् माना कहा जाता है और तभी जीव को धर्म होता है।

निमित्त और शुभराग हो परन्तु उनसे ज्ञान नहीं

द्रव्यश्रुत से आत्मा पृथक् है — ऐसा कहने से उसमें सच्चे द्रव्यश्रुत की स्वीकृति आ जाती है। जिस जीव को आत्मा समझने की जिज्ञासा है, उसे प्रथम द्रव्यश्रुत की ओर लक्ष्य होता है; द्रव्यश्रुत

के लक्ष्य से शुभराग होता अवश्य है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान, सत्समागम, शास्त्र-स्वाध्याय आदि निमित्त भी होते हैं और जिज्ञासु को उनके लक्ष्य से शुभराग भी होता है, परन्तु उन किन्हीं भी निमित्तों के लक्ष्य से आत्मस्वभाव समझ में नहीं आता। द्रव्यश्रुत आदि निमित्त और उनके लक्ष्य से होनेवाले राग की श्रद्धा छोड़कर, उससे रहित त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की रुचि न करे और ज्ञान को स्वोन्मुख न करे तो मिथ्याज्ञान दूर नहीं होता।

जिज्ञासु जीव को श्रवण की ओर का शुभराग होता है परन्तु यदि वह ऐसा मान ले कि शुभ से या श्रवण से ही ज्ञान होगा तो वह कभी भी परलक्ष्य छोड़कर स्वोन्मुख नहीं होगा और उसका अज्ञान बना रहेगा। श्रवण करने से या उस ओर के लक्ष्य से ज्ञान नहीं होता; ज्ञान तो अपनी योग्यता से ज्ञानस्वभाव के आधार से होता है — ऐसा समझकर, पुरुषार्थ द्वारा अपने वर्तमान ज्ञान को त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुख करे तो अपूर्व भेदज्ञान प्रगट होता है।

तीर्थङ्करों की दिव्यध्वनि के आश्रय से ज्ञान नहीं

तीर्थङ्कर होनेवाला जीव, आत्मस्वभाव के यथार्थ ज्ञान और अवधिज्ञानसहित जन्म लेता है और फिर मुनिदशा प्रगट करके उग्र पुरुषार्थपूर्वक आत्मस्वभाव में स्थिरता करके वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट करता है। ऐसा परिपूर्ण केवलज्ञान प्रत्येक जीव का स्वभाव है। सर्वज्ञदेव को ऐसा केवलज्ञान प्रगट होने पर अपना परिपूर्ण आत्मस्वभाव और जगत के सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय एक साथ प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं। केवलज्ञान होने के पश्चात् भी तेरहवें गुणस्थान में योग का कम्पन होता। तीर्थङ्कर भगवान को तेरहवें गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म का उदय होता है और उसके निमित्त

से ॐ — ऐसी दिव्यध्वनि खिरती है। आत्मस्वभाव समझने में निमित्तरूप द्रव्यश्रुत है, उस द्रव्यश्रुत में सबसे उत्कृष्ट दिव्यध्वनि है परन्तु उसके आश्रय से सम्यग्ज्ञान नहीं होता — ऐसा यहाँ बतलाना है।

दिव्यध्वनि किसके होती है ?

जब तक जीव के राग–द्वेषादि होते हैं, तब तक उसे पूर्ण ज्ञान नहीं होता और उसकी वाणी भी क्रमवाली, अनेक अक्षरोंवाली और भेदरूप होती है। रागादि दूर होकर वीतरागता होने से केवलज्ञान हुआ, वह परपदार्थों को एक साथ जानता है और उसकी वाणी अक्रमरूप, निरक्षरी और एक समय में पूर्ण रहस्य कहनेवाली होती है, इस कारण उसे दिव्यध्वनि कहा जाता है।

ज्ञान की स्वाधीनता और निमित्त का अकिञ्चित्करपना

श्री सर्वज्ञदेव को पूर्ण ज्ञान हो गया है और उनकी वाणी में भी प्रत्येक समय में पूर्ण रहस्य आता है परन्तु सामनेवाला जीव अपने ज्ञान की योग्यता से जितना समझें, उतना उसे निमित्त कहलाता है। कोई जीव बारह अङ्ग समझ ले तो उसे बारह अङ्गों के समझने में वह वाणी निमित्त कहलाती है और कोई जीव करणानुयोग का ज्ञान करे तो उस समय उसे वह वाणी करणानुयोग के ज्ञान में निमित्त कहलाती है। अहो! इसमें ज्ञान की स्वाधीनता सिद्ध होती है।

जो जीव अपने अन्तर में स्वभाव के आधार से जितना श्रद्धा –ज्ञान का विकास करता है, उतना ही दिव्यध्वनि में निमित्तपने का आरोप आता है; इसलिए यहाँ भगवान आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञान और द्रव्यश्रुत पृथक् हैं। वाणी और शास्त्र तो अजीव हैं, अजीव के आधार से कभी ज्ञान नहीं होता। यदि वाणी के श्रवण

के कारण ज्ञान हो तो अजीव वाणी, कर्ता हो और ज्ञान उसका कार्य सिद्ध हो। अजीव का कार्य तो अजीव होता है; इससे ज्ञान स्वयं अजीव सिद्ध हो। जो जीव, परवस्तु के आधार से अपना ज्ञान मानता है, उसका ज्ञान मिथ्या है; उसे यहाँ अचेतन कहा है। श्रुत के शब्द जड़ हैं, वे आत्मा के ज्ञान में अकिञ्चित्कर है; उस द्रव्यश्रुत के अवलम्बन से आत्मा को किञ्चित् ज्ञान या धर्म नहीं होता।

आत्मा में अभेद हो, वही सच्चा ज्ञान

शास्त्र और वाणी तो जड़ हैं, वह तो ज्ञान नहीं है, किन्तु मन्द कषाय के कारण, मात्र शास्त्र के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान का विकास भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए द्रव्य-गुण-पर्याय; निश्चय-व्यवहार; उपादान-निमित्त; नव तत्त्व इत्यादि सम्बन्धी ज्ञान का विकास, मात्र शास्त्रों के लक्ष्य से हो और स्वभाव का लक्ष्य न करे तो उस ज्ञान के विकास को भी द्रव्यश्रुत गिनकर अचेतन कहा है। शास्त्र आदि परद्रव्य, उनके लक्ष्य से होनेवाली मन्दकषाय और उसके लक्ष्य से कार्य करता हुआ वर्तमान जितना ज्ञान का विकास; उन सबका आश्रय छोड़कर, उनके साथ की एकता छोड़कर, त्रिकाली आत्मस्वभाव का आश्रय करके जो ज्ञान, आत्मा में अभेद हो, वही यथार्थ ज्ञान है।

ऐसा क्यों कहा है कि सन्तों की वाणी जयवन्त हो!

प्रश्न : यदि वाणी से, श्रुत से ज्ञान नहीं होता तो फिर यह किसलिए कहा जाता है कि सन्तों की वाणी जयवन्त प्रवर्तमान रहे! श्रुत जयवन्त हो?

उत्तर : वाणी से ज्ञान नहीं होता, परन्तु स्वभाव के ओर की एकाग्रता से ज्ञान प्रगट होता है। सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् जीव

ऐसा जानता है कि पहले वाणी की ओर लक्ष्य था, अर्थात् सम्यग्ज्ञान होने में निमित्तरूप वाणी है। वास्तव में तो अपने आत्मा में जो भेदज्ञान प्रगट हुआ है, वह (भावश्रुत) जयवन्त हो — ऐसी भावना है; और शुभविकल्प के समय भेदज्ञान के निमित्तरूप वाणी में आरोप करके कहते हैं कि 'श्रुत जयवन्त हो, भगवान की और सन्तों की वाणी जयवन्त हों' परन्तु उस समय भी अन्तर में बराबर भान है कि वाणी इत्यादि परद्रव्यों या उनकी ओर के लक्ष्य से मेरे आत्मा को किञ्चित् लाभ नहीं होता।

वाणी के कारण ज्ञान नहीं और न ज्ञान के कारण वाणी

आत्मा के ज्ञान में वाणी का अभाव है और वाणी में ज्ञान का अभाव है। यदि वाणी से ज्ञान होता हो तो वाणी, कर्ता और ज्ञान उसका कर्म — इस प्रकार एक-दूसरे को कर्त्ताकर्मपना हो जाता है; इसलिए यह मान्यता मिथ्या है।

आत्मा में सच्चा समझनेरूप योग्यता हो, तब उस योग्यता के कारण वाणी निकलना ही चाहिए, यह मान्यता भी सच्ची नहीं है क्योंकि यदि ऐसा हो तो ज्ञान, कर्ता और अचेतन वाणी उसका कार्य सिद्ध हो।

गौतमस्वामी आये, इसलिए भगवान की वाणी खिरी — ऐसा नहीं है; और वाणी खिरी, इसलिए गौतमस्वामी को ज्ञान हुआ — ऐसा भी नहीं है।

श्री महावीरस्वामी को केवलज्ञान हुआ, इन्द्रों ने समवसरण की रचना की, किन्तु छियासठ दिन तक भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी। श्रावण वदी एकम के दिन गौतमस्वामी आये और वाणी खिरी परन्तु वहाँ गौतमस्वामी आये, इसलिए वाणी खिरी —

ऐसा नहीं है और वाणी खिरनी थी, इसलिए गौतमस्वामी आये —ऐसा भी नहीं है; वाणी और गौतमस्वामी दोनों की क्रियाएँ स्वतन्त्र हैं।

भगवान की वाणी खिरी, इसलिए गौतमस्वामी को ज्ञान हुआ — ऐसा भी वास्तव में नहीं है। वाणी अचेतन है, उससे ज्ञान नहीं होता; और गौतमस्वामी आदि जीवों की ज्ञान में समझने की योग्यता हुई, इसलिए भगवान की वाणी परिणमित हुई — ऐसा भी नहीं है। अचेतन परमाणु को कहीं ऐसा पता नहीं है कि सामने पात्र जीव आया है, इसलिए मैं परिणमित होऊँ; और भगवान कहीं वाणी के कर्ता नहीं हैं; वाणी तो वाणी के कारण परिणमित होती है और जो जीव अपना आत्मस्वभाव समझने के योग्य हो, वह जीव अन्तरपुरुषार्थ द्वारा अपने स्वभावसन्मुख होकर समझता है, उसका ज्ञान अपने ज्ञानस्वभाव के आधार से परिणमित होता है। अपने स्वभाव के सन्मुख होकर जानना -देखना और आनन्द का अनुभव करना, वह आत्मा का स्वरूप है; परसन्मुख होकर जानना आत्मा का स्वरूप नहीं है।

केवलज्ञान, कम्पन और वाणी — तीनों की स्वतन्त्रता

आत्मस्वरूप में सम्पूर्ण स्थिर होने से महावीर भगवान को केवलज्ञान प्रगट हुआ; घातिकर्मों का स्वयं परमाणु की योग्यता से नाश हुआ। भगवान के अभी चार अघातिकर्म संयोगरूप थे और आत्मा में योग का कम्पन था, उसके निमित्त से दिव्यध्वनि खिरती थी; वहाँ केवलज्ञान या योग के कारण वाणी परिणमित नहीं होती थी क्योंकि तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान और योग तो सदैव हैं; अत: यदि उनके कारण वाणी परिणमित होती हो तो वह हमेशा

होना चाहिए, किन्तु वाणी तो अमुक समय ही होती है, क्योंकि उसका परिणमन स्वतन्त्र है तथा दिव्यध्वनि खिरना है; इसलिए भगवान को योग का कम्पन है — ऐसा भी नहीं है। कम्पन तो जीव के योगगुण की अशुद्धदशा है और वाणी, जड़ की दशा है; दोनों अपने-अपने कारण स्वतन्त्र हैं।

* भगवान को केवलज्ञान और कम्पन हैं, इसलिए वाणी खिरती है — ऐसा नहीं है।

* वाणी खिरती है, इसलिए केवलज्ञान और कम्पन बने हुए हैं — ऐसा नहीं है।

* कम्पन के कारण केवलज्ञान बना हुआ है — ऐसा नहीं है और केवलज्ञान के कारण कम्पन नहीं है।

* केवलज्ञान स्वतन्त्र, कम्पन स्वतन्त्र और वाणी स्वतन्त्र है।

भगवान की वाणी और गौतमस्वामी का ज्ञान-दोनों एक ही समय में हुए, फिर भी वे एक-दूसरे के कारण नहीं हैं।

अब, भगवान की वाणी खिरती है, उस वाणी के कारण दूसरे जीवों को ज्ञान नहीं होता। दूसरे जीवों को ज्ञान होना है, इसलिए वाणी खिरती है — ऐसा भी नहीं है। जब महावीर भगवान की वाणी खिरी, तब परमाणुओं की योग्यता से खिरी है और गौतमस्वामी को जो ज्ञान प्रगट हुआ, वह उनके आत्मा की योग्यता से हुआ है। वे दोनों कार्य एक ही काल में हुए, इससे कहीं एक दूसरे के कर्ता नहीं है। वाणीरूप पर्याय को पुद्गलपरमाणु प्राप्त हो गये हैं, इससे वह पुद्गल का कार्य है; कहीं गौतमप्रभु, वाणी की पर्याय को प्राप्त नहीं हो गये हैं; उसी प्रकार गौतमस्वामी की ज्ञानपर्याय को उनका

आत्मा ही प्राप्त हुआा है, कहीं वाणी उस ज्ञान को प्राप्त नहीं हो गयी है; इसलिए वाणी के कारण ज्ञान नहीं हुआ और गौतमप्रभु के कारण भगवान की वाणी नहीं हुई। इस जगत में अनन्त पदार्थों के भिन्न-भिन्न कार्य एक साथ एक समय होते हैं, इससे कहीं कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का कर्ता नहीं है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ करे — ऐसा वस्तुस्वभाव ही नहीं है।

वाणी के आश्रय से राग और स्वभाव के आश्रय से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति

द्रव्यश्रुत, अर्थात् भगवान की वाणी अचेतन है; उसके लक्ष्य से राग की उत्पत्ति होती है। वाणी के लक्ष्य से जो ज्ञान होता है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। ज्ञानस्वभाव के साथ अभेद होकर जो ज्ञान परिणमित हो, वह आत्मस्वभाव है। भगवान की वाणी के लक्ष्य से पुण्यभाव होता है, वह भी अचेतन है; वह धर्म का या सम्यग्ज्ञान का कारण नहीं है।

आत्मा स्वयं चेतन है, उसका अवलम्बन छोड़कर यदि अचेतन वाणी के अवलम्बनरूप परिणमित हो तो वह आस्रव है; उस समय जो शुभभाव होते हैं, उनमें चार घातिकर्म भी बँधते हैं और घातिकर्म पापरूप ही है; इस प्रकार द्रव्यश्रुत के लक्ष्य से पुण्य-पापरूप आस्रव होता है; इस कारण जड़ के आश्रय से जो ज्ञान होता है, वह अचेतन है क्योंकि वह ज्ञान, चेतन के विकास को रोकनेवाला है। चेतनरूप ज्ञानस्वभाव के आश्रय से सम्यग्ज्ञान होता है और संवर-निर्जरारूप निर्मलभाव की उत्पत्ति होकर आस्रव का नाश होता है — ऐसा जो जीव जानता है, वह अपने ज्ञानस्वभाव के स्वामित्वरूप ही परिणमित होता है। वह अपने को अचेतन

वस्तु का कर्ता या स्वामी नहीं मानता और अचेतन के आश्रय से होनेवाले ज्ञान जितना अपने को नहीं मानता।

जो रुपयों की तिजोरी में हाथ डाले, उसे रुपये मिलते हैं और जो चिरायते की थैली में हाथ डाले, उसे चिरायता मिलता है — इस दृष्टान्त से समझना चाहिए कि जो अचेतन वाणी की रुचि और विश्वास करता है, उसे अपनी वर्तमान दशा में रागादि की और अज्ञान की प्राप्ति होती है; और जो ज्ञानादि अनन्त गुणों के भण्डाररूप अपने स्वभाव की रुचि और विश्वास करता है, उसे अपनी पर्याय में भी सम्यग्ज्ञान और शान्ति की प्राप्ति होती है; इसलिए जिसे अपने आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, शान्ति, सुख आदि प्रगट करना हो, उसे कहीं बाह्य में न देखकर अनन्त गुणस्वरूप अपने आत्मस्वभाव में देखना चाहिए। आत्म-स्वभावोन्मुख होने से समयग्दर्शन, ज्ञानादि प्रगट होते हैं और उसके बिना वाणी-शास्त्रादि बाह्य वस्तुओं के लक्ष्य से चिरायता जैसे आस्त्रव और बन्धभाव होते हैं।

अपूर्व भेदज्ञान के लिए अमृत के इन्जेक्शन

अहा! आचार्यदेव ने ज्ञानस्वभाव की अपूर्व बात कही है। वाणी अचेतन है, उसके आधार से ज्ञान नहीं होता; ज्ञानस्वभाव के आधार से ही ज्ञान होता है। अहो! यह भेदविज्ञान की परम सत्य बात है, आत्मकल्याण का मार्ग है! परन्तु जिसे अपने कल्याण की दरकार नहीं है और जगत के आदर-मान की दरकार है — ऐसे तुच्छबुद्धि जीवों को यह बात नहीं रुचती, अर्थात् वास्तव में उन्हें अपने ज्ञानस्वभाव की ही रुचि नहीं है और विकारभाव रुचता है; इस कारण ऐसी अपूर्व आत्मस्वभाव की बात कान में पड़ने से ऐसे

जीव पुकार करते हैं कि अरे! आत्मा पर का कुछ नहीं करता — ऐसा कहना तो विष के इन्जेक्शन देने जैसा है! अहो! क्या किया जाए? यह भेदज्ञान की परम अमृत जैसी बात भी जिन्हें विष जैसी लगी, उनकी पर्याय का परिणमन भी स्वतन्त्र है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, विकार का और पर का अकर्ता है — ऐसी भेदज्ञान की बात तो अनादि काल से जो मिथ्यात्वरूपी विष चढ़ा है, उसे उतार देने के लिए परम अमृत के इन्जेक्शन जैसी है। यदि आत्मा एक बार भी ऐसा इन्जेक्शन ले तो उसके जन्म-मरण का रोग नष्ट होकर सिद्धदशा हुए बिना न रहे।

आत्मा और विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, परिपूर्ण है, निरावलम्बी है — ऐसा सम्यक्‌बोध तो परम अमृत है या विष? ऐसा परम अमृत भी जिन जीवों को विष के इन्जेक्शन जैसा लगता है, उन जीवों को उनके मिथ्यात्वभाव का बल ही वैसा पुकार रहा है। यह तो निज कल्याण करने के लिए और मिथ्यात्वरूप विष को दूर करने के लिए अचूक अमृत का इन्जेक्शन है। अपने परिपूर्ण स्वभाव का विश्वास करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो, अर्थात् धर्म का पहले से पहला प्रारम्भ हो; और उसका विश्वास न करने से वाणी का या राग का ही विश्वास करे तो उस जीव को मिथ्यात्वरूप अधर्म ही होता है।

आत्मस्वभाव का आश्रय ही प्रयोजन

आत्मस्वभाव समझने में, समझने के पूर्व और समझने के पश्चात् भी सत्श्रुत निमित्तरूप होता है, उसका यहाँ निषेध नहीं है, परन्तु यदि निमित्तों का आश्रय छोड़कर अपने स्वभाव का आश्रय करे, तभी जीव को सम्यग्ज्ञान होता है; और इस प्रकार स्वाश्रय से

सम्यग्ज्ञान प्रगट करे, तभी श्रुत को वास्तव में उसका निमित्त कहा जाता है। इस प्रकार यहाँ निमित्त का, व्यवहार का आश्रय छोड़कर स्वभाव का आश्रय करना ही प्रयोजन है। यही धर्म का मार्ग है।

ज्ञानी सारे दिन क्या करते हैं?

प्रश्न : यदि श्रुत-शास्त्र, ज्ञान के कारण नहीं है, तो फिर ज्ञानी दिन भर समयसार-प्रवचनसारादि शास्त्रों को हाथ में रखकर स्वाध्याय क्यों करते हैं?

उत्तर : प्रथम यह समझो कि आत्मा क्या है? ज्ञान क्या है? शास्त्र क्या है? और हाय क्या है? हाथ और शास्त्र दोनों तो अचेतन हैं, आत्मा से भिन्न हैं; उनकी क्रिया तो कोई आत्मा करता ही नहीं। ज्ञानी को स्वाध्याय आदि का विकल्प हुआ और उस समय ज्ञान में उस प्रकार के ज्ञेयों को ही जानने की योग्यता थी, इससे ज्ञान होता है, और उस समय निमित्तरूप समयसारादि शास्त्र उनके अपने कारण से स्वयं होते हैं; वहाँ ज्ञानी ने तो आत्मस्वभाव के आश्रय से ज्ञान ही किया है। हाथ की, शास्त्र की या राग की क्रिया भी उसने नहीं की है। शास्त्र के कारण ज्ञान नहीं होता और जीव के विकल्प के कारण शास्त्र नहीं आये हैं। ज्ञान का कारण अपना ज्ञानस्वभाव होता है या अचेतन वस्तु? जिन्हें अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नहीं है और अचेतन श्रुत के कारण अपना ज्ञान मानते हैं, उन्हें सम्यग्ज्ञान नहीं होता। यह भगवान आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। सर्वज्ञ-वीतरागदेव की साक्षात् वाणी, ज्ञान का असाधारण -सर्वोत्कृष्ट निमित्त है, वह अचेतन है, उसके आश्रय से, उसके कारण से भी आत्मा को किञ्चित् ज्ञान नहीं होता, तब फिर अन्य निमित्तों की तो बात ही क्या है?

भेदज्ञान के बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता

कोई ऐसा कहे कि पहले तो वाणी आदि निमित्तों के लक्ष्य से ही आत्मा आगे बढ़ता है न?

उससे कहते हैं कि भाई! वाणी के लक्ष्य से अधिक तो पापभाव दूर होकर पुण्यभाव होगा परन्तु वह कहीं आगे बढ़ा नहीं कहलायेगा, क्योंकि शुभभावों तक तो यह जीव अनन्त बार आ चुका है। शुभ-अशुभ से आत्मा का भेदज्ञान करके स्वभाव में आये, तभी आगे बढ़ा कहा जाता है। निमित्त के लक्ष्य से कभी भी भेदज्ञान नहीं होता; अपने ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य से प्रारम्भ करे, तभी आगे बढ़ेगा और भेदज्ञान प्रगट करके पूर्णता प्राप्त करेगा।

आचार्यदेव के कथन में गर्भितरूप से नौ तत्त्व

श्री आचार्यदेव की शैली बहुत गम्भीर है। प्रत्येक सूत्र का जितना विस्तार करना हो, उतना हो सकता है। श्रुत है, वह ज्ञान नहीं है — ऐसा कहने से उसमें नौ तत्त्व गर्भितरूप से आ जाते हैं।

1. स्वयं जीवतत्त्व चेतन है।

2. अपने से भिन्न द्रव्यश्रुत है, वह अचेतन-अजीवतत्त्व है।

3. अपने लक्ष्य से च्युत होकर उस अजीव की (वाणी की) ओर लक्ष्य करने से शुभराग होता है, वह पुण्यतत्त्व है।

4. अशुभ हे, वह पापतत्त्व है।

5. वाणी के लक्ष्य से होनेवाला विकार है, वह आस्रवतत्त्व है।

6. प्रति समय विकार चालू है और उस विकार में ज्ञान रुकता है, उसका नाम बन्धतत्त्व है।

7-8. वाणी और आत्मा को भिन्न जानकर, यदि अपने स्वभाव

की ओर उन्मुख हो तो सम्यग्दर्शनादि प्रगट होते हैं, वह संवर–निर्जरातत्त्व है, और

9. आत्मस्वभाव में लीन होने से रागादि दूर होकर ज्ञान की पूर्णता होती है, वह मोक्षतत्त्व है।

मोक्ष कैसे होता है ?

मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा, वाणी आदि से पृथक् हूँ — ऐसा जिसने निर्णय किया, वह अपने ज्ञान को पर का अवलम्बन नहीं मानता; उसे अपने अन्तरस्वभाव के आश्रय से आत्मा का ज्ञान प्रगट होता है और प्रतिक्षण शुद्धता की वृद्धि होती जाती है।

'मुझे मोक्ष करना है अथवा मुझे धर्म करना है' — ऐसा अन्तर में रटता रहे तो उससे कहीं धर्म नहीं होगा। मोक्ष कैसे होता है ? — यह बतलानेवाली सन्तों की वाणी के लक्ष्य में रुक जाए तो भी मोक्ष नहीं होगा। अपनी वर्तमान पर्याय में से विकार नष्ट होकर मोक्षदशा प्रगट करना है; इस प्रकार पर्याय को देखते रहने से भी मोक्ष नहीं होगा–धर्म नहीं होगा परन्तु यह वाणी और अपूर्ण पर्याय, मैं नहीं हूँ — ऐसा समझकर, उसका लक्ष्य छोड़कर, परिपूर्ण आत्मस्वभाव का आश्रय करने से निर्मलदशा प्रगट होती है और पराश्रय से होनेवाले मिथ्यात्व–रागादि भाव दूर हो जाते हैं। आत्मा, ज्ञान–आनन्द का बिम्ब है, उसमें परिपूर्ण ज्ञानसामर्थ्य है; उस सामर्थ्य का विश्वास करके उसका अनुभव करने से पर्याय में पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य प्रगट होती है, यही मुक्ति का उपाय है।

यदि वाणी से ज्ञान नहीं होता तो.......

प्रश्न : यदि आत्मा में ही पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य भरी है और वाणी

से ज्ञान नहीं होता, तो यह सब जिज्ञासु यहाँ सुनने क्यों आते हैं? अपने में भरा है, उसमें से क्यों नहीं निकालते?

उत्तर : यहाँ सुनने आते हैं, इसमें आत्मा क्या करता है — उसका विचार करो। आत्मा कहीं जड़ शरीर को उठाकर नहीं लाया है; शरीर का क्षेत्रान्तर उसके अपने कारण से हुआ है और आत्मा का क्षेत्रान्तर उसके अपने कारण से हुआ है। जिज्ञासु जीवों को सत्‌श्रवण के कारण ज्ञान नहीं होता और सत्‌श्रवण की इच्छा हुई, इसलिए आत्मा का क्षेत्रान्तर हुआ — ऐसा भी नहीं है क्योंकि इच्छा, चारित्र का विकार है और क्षेत्रान्तर होना, क्रियावतीशक्ति की अवस्था है; दोनों पृथक्-पृथक् गुणों के कार्य हैं। एक गुण की पर्याय दूसरे गुण की पर्याय में कुछ भी कार्य नहीं करती; तब फिर आत्मा परवस्तु में क्या करेगा? श्रवण करते समय भी शब्दों के कारण ज्ञान नहीं होता। ज्ञान की उस समय की पर्याय की वैसी ही योग्यता है, इसलिए उस समय सामने वैसे ही शब्द निमित्तरूप स्वयं होते हैं। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि शब्दों के कारण ज्ञान हुआ है परन्तु वैसा नहीं है। आत्मा की समझ तो अन्तरस्वभाव के आश्रयरूप पुरुषार्थ से ही होती है।

जिज्ञासु जीवों को कुगुरु का संग छोड़कर सत्पुरुष की वाणी श्रवण करने का भाव आता है, परन्तु 'मेरा ज्ञान, वाणी के कारण नहीं है, वाणी के लक्ष्य से भी मेरा ज्ञान नहीं है; अन्तर में ज्ञानस्वभाव से ही मेरा ज्ञान आता है' — ऐसा निश्चय करके, यदि स्वभावोन्मुख हो, तभी सम्यग्ज्ञान होता है; वाणी के लक्ष्य से सम्यग्ज्ञान नहीं होता; इस प्रकार सत् का श्रवण करनेवाले जीव का ज्ञान स्वतन्त्र है, इच्छा स्वतन्त्र हैं, क्षेत्रान्तर स्वतन्त्र है, शरीर की क्रिया स्वतन्त्र है और सामनेवाले की वाणी भी स्वतन्त्र है।

ज्ञान आत्मा के आश्रित

द्रव्यश्रुत स्वयं ज्ञान नहीं है और उसके आश्रय से भी ज्ञान नहीं होता। श्री कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं महाविदेहक्षेत्र में जाकर सर्वज्ञदेव श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यवाणी का आठ दिन तक श्रवण कर आये थे। वे इस गाथा में कहते हैं कि भगवान की दिव्यध्वनि तो अचेतन है, उसमें आत्मा का ज्ञान नहीं है। भगवान की वाणी भी ऐसा ही बतलाती है कि ज्ञान की उत्पत्ति वाणी के कारण नहीं होती। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसी के आश्रित उसका ज्ञान है।

वाणी अचेतन है, उसमें ज्ञान नहीं है — यह व्यतिरेकपना कहा है और ज्ञान, आत्मा है — यह अन्वयपना है, अर्थात् आत्मा अपने स्वभाव से अनन्त गुणों से परिपूर्ण है और वाणी आदि से बिल्कुल पृथक् है; इस प्रकार अस्ति-नास्ति द्वारा आचार्यदेव, आत्मस्वभाव बतलाते हैं।

अचेतन वाणी के लक्ष्य से होनेवाला विकल्प और ज्ञान का विकास भी वास्तव में अचेतन है। वाणी के लक्ष्य से होनेवाले विकल्प की या विकास की बात न करके वाणी को ही अचेतन कहा है; उसमें वाणी के आश्रय से होनेवाले भाव भी अचेतन हैं — यह बात आ जाती है।

आचार्यदेव कहते हैं कि वाणी के आश्रय से तेरा ज्ञान प्रगट नहीं होगा। राग की भूमिका में वाणी की ओर लक्ष्य जाता अवश्य है, परन्तु यदि वाणी का अवलम्बन मानकर रुक जाए तो वह मिथ्याज्ञान है। वाणी के अवलम्बन से रहित पूर्ण ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है।

ज्ञान और वाणी पृथक् हैं। ज्ञान में से वाणी नहीं निकलती और

वाणी में से ज्ञान प्रगट नहीं होता। ज्ञान में जैसी योग्यता हो, वैसी ही वाणी निमित्तरूप होती है — ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; वहाँ अज्ञानी जीव, भ्रम से ऐसा मानता है कि वाणी के कारण से ज्ञान होता है; इसलिए वह वाणी का आश्रय छोड़कर स्वभाव का आश्रय नहीं करता, इस कारण उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। ऐसे जीव को वाणी से ज्ञान की भिन्नता बतलाते हैं। ज्ञान, चेतन है और वाणी, जड़ का परिणमन है। ज्ञान और वाणी दोनों अपनी-अपनी पर्याय में क्रमबद्ध स्वतन्त्ररूप से परिणमित होते हैं।

द्रव्यदृष्टि के अपूर्व पुरुषार्थ बिना क्रमबद्धपर्याय या केवलज्ञान की प्रतीति नहीं

प्रश्न : यदि प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध होती है, तो रागादि भाव होते हैं, वे भी क्रमबद्ध होते हैं न? तो फिर उन्हें दूर करने का पुरुषार्थ नहीं रहता?

उत्तर : जिसे क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा हुई है, उसे ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि द्रव्यदृष्टि के बल से ही अनादि-अनन्त क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है; द्रव्यदृष्टि हुए बिना क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं होती; और द्रव्यदृष्टि होने से जीव, राग को अपना स्वरूप नहीं मानता क्योंकि त्रिकाली द्रव्य में राग नहीं है, इस कारण वह जीव वास्तव में राग का ज्ञाता ही रहता है; अत: परमार्थ से उसे राग नहीं होता, किन्तु टलता ही जाता है।

मेरी और जगत के समस्त पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है — ऐसा निर्णय करनेवाला जीव एक-एक पर्याय को नहीं देखता, किन्तु द्रव्य के त्रिकाली स्वरूप को देखता है। ऐसा जीव, राग की योग्यता को नहीं देखता क्योंकि त्रिकाली स्वभाव

में राग की योग्यता नहीं है — ऐसे त्रिकाली स्वभाव में एकता के बल से उसका राग दूर ही होता जाता है। ऐसे त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि करने में रागरहित श्रद्धा-ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ कार्य कर रहा है।

क्रमबद्धपर्याय का विश्वास करने से तो पर का, विकार का और पर्याय का आश्रय छूटकर मात्र अभेद स्वभाव का ही आश्रय रहता है। उस स्वभाव में से राग की उत्पत्ति होती नहीं, इसलिए क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धावाले सम्यग्दृष्टि को क्रमशः स्वभाव की एकता ही होती जाती है और राग क्रमशः दूर ही होता जाता है। स्वभावदृष्टि के कारण उसके स्वभाव की उत्पत्ति का क्रम है और राग दूर होने का क्रम है — तो फिर 'राग होना होगा तो होगा' — यह बात कहाँ रही ? राग पर ही जिसकी दृष्टि है, उसे तो राग और आत्मा के भेद का विचार ही नहीं है; उसे तो राग ही आत्मा है, इस कारण उसे राग की उत्पत्ति होती है, किन्तु जिसकी रागरहित चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि है और राग का निषेध है, उसके तो स्वभाव की निर्मलता की ही उत्पत्ति होती है और राग दूर होता जाता है। सम्यग्दृष्टि को चारित्र की निर्बलता से जो अल्प राग होता है, वह वास्तव में उत्पत्तिरूप नहीं है, किन्तु टलने के लिए ही है क्योंकि राग होता है, उस समय भी राग का नहीं, किन्तु द्रव्य का ही आश्रय है।

स्व और पर समस्त पदार्थ क्रमबद्धपर्याय में परिणमित होते हैं — ऐसा निर्णय करने पर ही ज्ञान का क्रम ज्ञान से और वाणी का क्रम जड़ से — इस प्रकार दोनों का भेदज्ञान होकर ज्ञान अपने स्वभाव में ढ़लता है। स्वभावोन्मुख हुए बिना क्रमबद्धपर्याय का

यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। उसी प्रकार स्वद्रव्य के निर्णय बिना यथार्थतया केवली भगवान का भी निर्णय नहीं हो सकता। स्वयं राग से अंशतः पृथक् हुए बिना पूर्ण रागरहित केवलज्ञानी का निर्णय कैसे कर सकेगा? राग और ज्ञान के बीच का भेदज्ञान हुए बिना रागरहित केवलज्ञान की परमार्थ प्रतीति नहीं होती; इसलिए ऐसा बतलाया है कि स्वद्रव्य के स्वभाव के निर्णय से ही धर्म होता है। केवली भगवान का निर्णय करने में भी परमार्थ से तो अपने आत्मद्रव्य के निर्णय का ही पुरुषार्थ है। आत्मनिर्णय के पुरुषार्थ के बिना केवली भगवान के वचनों की भी यथार्थ प्रतीति नहीं कहलाती।

इस आत्मा में दूसरे केवली भगवान का अभाव

केवलज्ञानी भगवान के लक्ष्य से भी जो ज्ञान हो, वह अचेतन है। केवली भगवान स्वयं अपने में परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप हैं परन्तु इस आत्मा की अपेक्षा केवली भगवान परद्रव्य हैं-अचेतन हैं। इस आत्मा की चेतना में केवली भगवान का अभाव है; इसलिए इस आत्मा की अपेक्षा से केवली प्रभु अचेतन है। केवली भगवान अपने में परिपूर्ण हैं और मेरे लिए वे शून्य हैं, अर्थात् मुझमें केवली भगवान का अभाव है। केवली का ज्ञान भी मेरे ज्ञान का कारण नहीं है और उनकी वाणी भी मेरे ज्ञान का कारण नहीं है। मैं अपने ज्ञान-दर्शन-सुख आदि से परिपूर्ण हूँ और मेरे ज्ञानादि का केवली भगवान में अभाव है। इस प्रकार अपनी परिपूर्णता का निर्णय करके, ज्ञान स्वोन्मुख हो, वह धर्म है। निचली अवस्था में रागादि होते हैं, उस समय भी अपने पूर्ण वीतरागी स्वभाव की प्रतीति और अवलम्बन, धर्मात्मा को नहीं छूटता है।

वाणी और ज्ञान का भिन्न-भिन्न स्वभाव

वाणी अपनी अचेतनता से परिपूर्ण है और मैं अपनी चेतनता से भरा हुआ हूँ। मेरे ज्ञान को वाणी की आवश्यकता नहीं है और वाणी को मेरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं है — ऐसा जानकर जीव, वाणी का और वाणी की ओर के रागादि का आश्रय छोड़कर चैतन्यस्वभाव का आश्रय लेता है। चैतन्यस्वभाव आत्मद्रव्य के लक्ष्य से प्रति समय स्वभाव की शुद्धता बढ़ती जाती है; ऐसे सर्व-विशुद्धज्ञान का इस अधिकार में निरूपण है।

स्वतन्त्र चैतन्यभगवान

प्रत्येक जीव स्वतन्त्र चैतन्यभगवान है, अपने स्वभाव-सामर्थ्य से परिपूर्ण है; उसके स्वभाव में किञ्चित् अपूर्णता-न्यूनता नहीं है कि उसे किसी दूसरे की सहायता लेना पड़े और दूसरे जीव या जड़ पदार्थ भी अपूर्ण नहीं है कि वे इस जीव की सहायता की अपेक्षा रखें। जो जीव स्वयं अपनी पात्रता प्रगट करेगा, वह अपने ज्ञानसामर्थ्य से सत् को समझेगा; उसमें कोई दूसरा उसे समझाने या रोकने में समर्थ नहीं है। यह आत्मा स्वयं समझने के लिए किसी अन्य देव-गुरु-शास्त्र की, शरीर-मन-वाणी की या राग की अपेक्षा नहीं रखता। सामान्य चैतन्यभाव के आश्रय से ही स्वयं सम्यग्ज्ञान प्रगट करके पूर्ण होता है। जीव-अजीव-पुण्य-पाप- आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा और मोक्ष — ऐसे नव तत्त्व के विकल्पों से भिन्न, नव तत्त्व के भेद से पार जो अखण्ड, रागरहित चैतन्यतत्त्व है, उसी के आश्रय से सम्यग्ज्ञान होता है, उसी की श्रद्धा से सम्यग्दर्शन होता है और उसी में एकाग्रतारूप स्वरूपरमणता से सम्यक्चारित्र होता है — यही मोक्ष का उपाय है।

श्रुत के लक्ष्य से धर्म नहीं

आचार्य भगवान कहते हैं कि तेरा आत्मस्वभाव तुझसे ही है; श्रुत के कारण तेरा स्वभाव नहीं है। श्रुत को और आत्मा को भिन्नत्व है। यदि तू ऐसा मानेगा कि श्रुत हो तो आत्मा का लक्ष्य हो, श्रुत के लक्ष्य से आत्मा समझमें आता है अथवा नव तत्त्वों को जानने से (नव तत्त्वों के लक्ष्य से) आत्मा समझमें आता है तो तेरा लक्ष्य श्रुत से, नव तत्त्वों के भेद से कभी नहीं हटेगा और कभी अभेद चैतन्यद्रव्य का लक्ष्य नहीं होगा — इससे मिथ्यात्व दूर नहीं होगा और सदैव पुण्य-पाप-आस्रव और बन्धभाव ही होते रहेंगे, किन्तु संवर-निर्जरा या मोक्षरूप धर्म नहीं होगा; इसलिए हे भव्य! श्रुत की ओर के विकल्पों से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव का विश्वास कर! जो अपने चैतन्यस्वभाव का विश्वास करता है, उस जीव को स्वाश्रय से निर्मल धर्म प्रगट होता है।

देव-शास्त्र-गुरु के आश्रय से मुक्ति नहीं

स्वाधीन आत्मतत्त्व को पर के आधार से मुक्ति होती है — ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है और मनवानेवाले कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र हैं। उन्हें देवरूप से माननेवाला जीव, मिथ्यादृष्टि है। यह आत्मा ऐसा पराधीन नहीं है कि अपनी मुक्ति के लिए इसे किसी अन्य का आश्रय लेना पड़े। ईश्वर की भक्ति करो तो वह मुक्ति देता है अथवा शुभराग से मुक्ति मिलती है — ऐसा माननेवाले जीव, मूढ़-मिथ्यादृष्टि हैं। राग से या जड़ से-शास्त्रों से-वाणी से आत्मा को धर्म मनवाते हों, वे शास्त्र, कुशास्त्र हैं और वैसे जीव, अज्ञानी कुगुरु हैं।

शास्त्र में कहीं ऐसा भी कथन आता है कि यदि जीव, ज्ञानी

पुरुष को पहचानकर एक बार अर्पित हो जाये तो उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे। वहाँ जीव को अपना स्वच्छन्द छुड़ाने तथा देशनालब्धि की पात्रता बतलाने का प्रयोजन है। ज्ञानी को पहिचानने में अपना पुरुषार्थ है और ज्ञानी पुरुष जैसा शुद्ध आत्मा कहते हैं, वैसा ही स्वयं समझे, तभी ज्ञानी पुरुष के प्रति सच्ची अर्पणता हुई कहलाती है और ऐसी योग्यता प्रगट करे, उसकी मुक्ति हुए बिना नहीं रहती परन्तु मात्र श्रीगुरु के प्रति शुभराग करके अर्पित हो जाने को मुक्ति का कारण कहने का शास्त्र का तात्पर्य नहीं है। श्रीगुरु के प्रति राग करके रुक जाए परन्तु वे जैसा आत्मस्वभाव कहते हैं, वैसा स्वयं न समझे तो मुक्ति नहीं होगी।

किसे प्रगट होता है अपूर्व सम्यक्त्व धर्म ?

यथार्थ वस्तुस्वभाव को दर्शानेवाले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु कैसे होते हैं? और उनसे विरुद्ध कथन करके आत्मा को पराधीन माननेवाले कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र कैसे होते हैं? — उसकी पहिचान, आत्मस्वभाव समझने के जिज्ञासुओं को प्रथम करना चाहिए। इसी प्रकार सुदेवादि द्वारा कहा गया प्रत्येक वस्तु का स्वतन्त्र परिपूर्ण स्वरूप किस प्रकार है? — वह समझना चाहिए और कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु का श्रद्धान छोड़कर सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान करना चाहिए। देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष्य से ऐसी श्रद्धा करना, व्यवहारश्रद्धा है। यदि उसी के लक्ष्य में रुका रहे तो भी मिथ्यात्वदशा दूर नहीं होगी। परलक्ष्य से हटकर, राग और विकल्प का अवलम्बन छोड़कर, अपने शुद्धात्मा की प्रतीति करना निश्चयश्रद्धान है, वह अपूर्व धर्म है।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा करने से गृहीतमिथ्यात्व दूर

होता है और परमार्थ आत्मतत्त्व की श्रद्धा करने से अनादि का अगृहीतमिथ्यात्व दूर होकर अपूर्व सम्यक्त्व प्रगट होता है। परमार्थ आत्मतत्त्व का श्रद्धान करे तो देव-गुरु-शास्त्र के श्रद्धान को सच्चा व्यवहार कहा जाता है।

सत्-असत् के विवेक बिना धर्म नहीं होता

'यह भी सच्चा और इससे विरुद्ध दूसरा भी सच्चा; सब अपनी-अपनी अपेक्षाओं से सच्चे हैं; हमें किसी को मिथ्या नहीं कहना चाहिए' — इस प्रकार यथार्थ और मिथ्या का विवेक किए बिना जो भ्रम से वर्तन करते हैं, वे तो मूढ़दृष्टि हैं; उनमें सत्-असत् की परख करने योग्य ज्ञानशक्ति भी प्रगट नहीं हुई है। पर से लाभ होता है या देव-गुरु-शास्त्र इस आत्मा को लाभ करते हैं, अथवा उनके लक्ष्य से धर्म होता है — ऐसा मार्ग तीन काल में सत्य नहीं है। किसी भी एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व से वास्तव में कोई लाभ-हानि मनाये तो वह सत्यमार्ग नहीं है।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, स्वाश्रय करने को कहते हैं

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र तो ऐसा कहते हैं कि तेरा तत्त्व स्वयं से पूर्ण है। हम पृथक् हैं और तू पृथक् है। कहीं हमारे आश्रय से तेरा तत्त्व विद्यमान नहीं है। तेरे आत्मा को हमने उत्पन्न नहीं किया है कि तुझे हमारा आधार हो। जगत में समस्त तत्त्व अनादि -अनन्त स्वयंसिद्ध भिन्न-भिन्न और परिपूर्ण हैं। हमारा अवलम्बन करने से तेरा सम्यग्ज्ञान या वीतरागता विकसित नहीं होंगे। हमारे आश्रय के बिना और हमारी अपेक्षा के बिना, अपने स्वभाव के अवलम्बन से ही तुझे सम्यग्ज्ञान और वीतरागता होगी। इस प्रकार यथार्थ समझकर अपने ज्ञान को स्वभावोन्मुख करना, अर्थात् स्वभाव के आश्रय से

परिणमित होना, वह धर्म है। उसी में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि भी आ जाते हैं।

आत्मा का स्वरूप

आत्मा ज्ञानमूर्ति है, वह अन्य समस्त वस्तुओं से भिन्न है। वह स्वयं किसी अन्य का कार्य नहीं है, अर्थात् वह अपने ज्ञान -आनन्द आदि कार्यों के लिए किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता और स्वयं किसी दूसरे का कार्य नहीं करता। दूसरे के लक्ष्य से होनेवाले पुण्य-पाप के भाव भी उसका स्वरूप नहीं है। श्रुत भी आत्मा से पृथक् है; उसके लक्ष्य से आत्मा को धर्म नहीं होता। यहाँ श्रुत से आत्मा को भिन्न कहने से श्रुत अथवा द्रव्यश्रुत और उसके लक्ष्य से होनेवाला रागादि विकल्प समझना चाहिए। आत्मा के स्वभाव को जाननेवाला जो भावश्रुतज्ञान है, वह तो आत्मा का ही स्वरूप है, वह कहीं आत्मा से भिन्न नहीं है।

गौणरूप से व्यवहार की सिद्धि

यहाँ श्रुत से आत्मा पृथक् है — ऐसा कहने में आचार्यदेव ने गौणरूप से व्यवहार को भी सिद्ध कर दिया है और नवों तत्त्व उसमें सिद्ध हो जाते हैं। इस जगत् में आत्मा है और आत्मा के अतिरिक्त दूसरे अजीव पदार्थ भी हैं। आत्मा को समझनेवाले भी हैं और न समझनेवाले भी है, अर्थात् सच्चे देव-गुरु हैं और मिथ्या देव-गुरु भी हैं। सच्चे देव-गुरु कहने से उसमें संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व आ जाते हैं और कुगुरु आदि में आस्रव-बन्ध तथा पुण्य-पापतत्त्व आ जाते हैं। श्रुत है, उस ओर अवस्था का लक्ष्य जाता है, विकल्प होता है; उस श्रुत का लक्ष्य छोड़कर आत्मा का लक्ष्य हो सकता है और विकार दूर करके पूर्ण ज्ञानदशा प्रगट हो सकती है, यह सब जानना, वह व्यवहार है।

स्वभाव का आश्रय करना ही प्रयोजन

....परन्तु यहाँ उस व्यवहार के समस्त भंग भेदरहित शुद्ध परिपूर्ण आत्मस्वभाव की श्रद्धा करने का प्रयोजन होने से वह व्यवहार गौण है, हेयरूप है और अखण्ड चैतन्यतत्त्व का आश्रय करना निश्चय है, वही उपादेयरूप है। मैं आत्मा परिपूर्ण चैतन्यरूप निरावलम्बी हूँ — ऐसी श्रद्धा करके उसका आश्रय करे और वाणी का आश्रय छोड़ दे, तब निश्चय श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होते हैं और तभी श्रुत को निमित्तरूप कहा जाता है और उसके द्रव्यश्रुत के ज्ञान को व्यवहार ज्ञान कहते हैं। अपने स्वभाव को जानकर उसमें स्थिर होना परमार्थ है।

आत्मा की सच्ची लगन

प्रत्येक आत्मा का स्वरूप ही ऐसा है। जो जीव अपने ऐसे स्वरूप को समझे, उसका ही कल्याण होता है और जिसे अपने आत्महित की सच्ची दरकार है एवं भवभ्रमण का भय है, वैसे परमार्थी जीव को ही सत्समागम से आत्मस्वरूप समझमें आता है। अपने आत्मा की सच्ची लगन के बिना और सत्समागम के बिना आत्मस्वभाव समझमें नहीं आ सकता और आत्मस्वभाव को समझे बिना जन्म-मरण दूर नहीं हो सकता।

आत्मा की पूर्णता के स्वीकार बिना धर्म नहीं

यदि स्वयं अपने आत्मा की परिपूर्णता को न माने तो वह पर का आश्रय माने बिना नहीं रहेगा और इससे वह जीव, पर के साथ की एकत्वबुद्धि छोड़कर अपने परिपूर्णस्वभाव की ओर उन्मुख नहीं होगा, और न उसे धर्म होगा; इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि

तेरा आत्मा, ज्ञान से परिपूर्ण हैं; श्रुत के आश्रित तेरा ज्ञान नहीं है, इसलिए श्रुत का आश्रय छोड़कर अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय कर, उसी के आश्रय से धर्म प्रगट होता है और मुक्ति होती है।

भेदज्ञान ही मुक्ति का उपाय

इस प्रकार श्रुत और ज्ञान की भिन्नता को बतलाकर आचार्यदेव ने सर्व प्रथम ही आत्मज्ञान में असाधारण निमित्तरूप श्रुत का अवलम्बन छुड़ाया है। श्रुत कहने से यहाँ मुख्यतया दिव्यध्वनि की बात है। उस श्रुत के अवलम्बन से ज्ञान नहीं होता, परन्तु ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्ज्ञान होता है — ऐसा भेदज्ञान प्रगट करके स्वभाव का आश्रय करना और पराश्रय को छोड़ना ही मुक्ति का उपाय है। ●●

अनन्त जन्म-मरण का भय क्यों नहीं ?

देखो, यह जीव एक सर्प देखने पर कितना अधिक भयभीत होता है क्योंकि इसे शरीर के प्रति ममत्व और प्रीति है। अरे! प्राणी को एक शरीर पर सर्प के डंसने का इतना भय है तो अनन्त जन्म-मरण का भय क्यों नहीं है? आत्मा की समझ बिना अनन्त अवतार के दु:ख खड़े हैं, इस बात का तुझे भय क्यों नहीं है? अरे! यह भव पूरा हुआ, वहीं दूसरा भव तैयार है; इस प्रकार एक के बाद दूसरा भव, तू अनन्त काल से कर रहा है। आत्मा स्वयं सच्ची समझ न करे तो जन्म-मरण का अभाव नहीं होता।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

शब्दों से ज्ञान का भिन्नत्व

शब्द, ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द (पुद्गलद्रव्य की पर्याय है,) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और शब्द के व्यतिरेक (अर्थात् भेद) है।

सर्व प्रथम 'श्रुत है, वह ज्ञान नहीं है' — ऐसा कहकर स्वाश्रय द्वारा असाधारण वाणी का आश्रय छुड़ाया। अब कहते हैं कि 'शब्द है, वह ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द अचेतन है; इसलिए शब्दों को और ज्ञान को व्यतिरेक है।' आचार्यदेव ने सामान्य भाषा के शब्दों से दिव्यध्वनि को पृथक् करके पहले उसकी बात की है; अब यहाँ सामान्य शब्दों की बात है।

शब्दों के कारण ज्ञान नहीं है — ऐसा निर्णय करनेवाला ज्ञान स्वोन्मुख होता है।

आत्मा, ज्ञानस्वभाव है; वह स्वभाव, पर के कारण नहीं है। शब्द हैं, इसलिए आत्मा जानता है — ऐसा नहीं है। सामने शब्दों का परिणमन है, उसके कारण आत्मा को ज्ञान या आनन्द नहीं है। निन्दा या प्रशंसा के शब्दों के कारण ज्ञान नहीं होता; निन्दा के शब्दों के कारण आत्मा को दु:ख नहीं हैं और प्रशंसा के शब्दों के कारण सुख नहीं है। आत्मा शुद्ध है, परिपूर्ण है — ऐसे शब्दों में कहीं आत्मा विद्यमान नहीं है। आत्मा तो ज्ञानस्वभाव में विद्यमान है।

शब्द अचेतन हैं, ज्ञान उनसे पृथक् है; इस प्रकार शब्दों से आत्मा की भिन्नता जानकर, शब्दों का लक्ष्य छोड़कर; मैं चैतन्यद्रव्य हूँ, ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण हूँ — इस प्रकार स्वभाव का निर्णय करके, वर्तमान ज्ञान-अवस्था स्वभावोन्मुख होने से द्रव्य-गुण-पर्याय एकतारूप परिणमित हों, उसका नाम धर्म है। शब्दादि परपदार्थों के कारण ज्ञान नहीं है — ऐसा निर्णय करनेवाला ज्ञान, शब्दों का लक्ष्य छोड़कर स्वभावोन्मुख होता है।

ज्ञान और ज्ञेय का स्वतन्त्र परिणमन

ज्ञान अपने स्वभाव से होता है, शब्द सुनने के कारण ज्ञान नहीं होता। घड़ी में आठ घण्टे बजे, इसलिए आठ बजने का ज्ञान हुआ — ऐसा अज्ञानी मानते हैं। वास्तव में तो ज्ञान की वैसी ही योग्यता से वह ज्ञान हुआ है, घण्टों के कारण नहीं। जड़ शब्द, जड़ के कारण परिणमित होते हैं और ज्ञान, ज्ञान के कारण परिणमित होता है। ज्ञान और ज्ञेय का परिणमन एक ही समय वर्त रहा है, किन्तु दोनों स्वतन्त्र हैं। उपादान स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, तब निमित्त को व्यवहारकारण कहा जाता है।

घड़ी में जिस समय नौ बजने में पाँच मिनट कम हों, उस समय ज्ञान भी वैसा ही जानता है और कोई पूछे कि कितने बजे हैं? तो वाणी में ऐसा ही आता है कि नौ में पाँच मिनट कम हैं; और उस पूछनेवाले जीव को भी ऐसा ही ज्ञान होता है; इस प्रकार सबका मेल बैठता होने पर भी, प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्ररूप से अपने स्वकाल में ही, पर की अपेक्षा के बिना परिणमित हो रहा है। घड़ी में नौ में पाँच कम हों, तब ज्ञान वैसा ही जानता है; किन्तु बारह बजे हैं — ऐसा नहीं जानता, तथापि घड़ी के कारण ज्ञान नहीं हुआ है। ज्ञान

के कारण, नौ में पाँच मिनट कम — ऐसी वाणी नहीं हुई और उस वाणी के कारण दूसरे जीव को वैसा ज्ञान नहीं हुआ है।

अहो! यह ज्ञान की परिपूर्ण स्वतन्त्रता की बात है। जिसे चैतन्यस्वभाव की रुचि नहीं है, उसे यह बात नहीं जमती। जिस प्रकार बड़े और ऊँचे मकानों पर ताँबे का ऐसा तार लगाते हैं कि जिससे बिजली गिरे तो मकान को नुकसान पहुँचाये बिना तार द्वारा सीधे जमीन में उतर जाए। उसी प्रकार जिसने चैतन्य की रुचिरूपी तार आत्मा के साथ जोड़ा है, उसे यह चैतन्य की स्वाधीनता की बात रुचि द्वारा झट से आत्मा में उतर जाती है। स्व-पर का भेदज्ञान होने से वस्तु की स्वतन्त्रता को किञ्चित् हानि पहुँचाये बिना उसका ज्ञान चैतन्य के सन्मुख हो जाता है।

शब्द स्वयं परिणमित होते हैं, जीव के कारण नहीं

जड़ और चेतन प्रत्येक वस्तु की प्रति समय की स्वाधीनता है, उसे अज्ञानीजन नहीं मानते हैं; इसलिए हम भाषादि के कर्ता हैं और भाषा के कारण हमारा ज्ञान होता है — ऐसा वे मानते हैं, इससे वे अपने को और पर को प्रति समय पराधीन मानकर स्वयं पराधीन होते हैं, वही दुःख और अधर्म है। यहाँ आचार्यदेव, शब्द और ज्ञान की, अर्थात् जड़ और चेतन की भिन्नता बतलाकर, स्वतन्त्रता का भान कराते हैं। इस जगत में भाषावर्गणा के स्कन्ध हैं, वे ही स्वयं शब्दरूप परिणमित होते हैं; इसके अतिरिक्त दूसरे भी अनन्त स्कन्ध हैं, लेकिन वे शब्दरूप परिणमित नहीं होते।

जिस प्रकार ज्वार के आटे की पूड़ियाँ नहीं बनाई जा सकतीं; उसी प्रकार शरीर, कर्म, शब्द इन सबकी भिन्न-भिन्न वर्गणाएँ हैं; उनमें से शरीरादि होते हैं। शब्द होने योग्य जो भाषावर्गणाएँ हैं, वही

शब्दरूप होती है, तब फिर जीव उसमें क्या करेगा? आकाश सर्वत्र फैला हुआ स्थिर और अरूपी है, उसमें चलने की या आवाज होने की शक्ति ही नहीं है; और परमाणुओं में हलन-चलन की तथा भाषादिरूप होने की शक्ति है, इसलिए वे स्वयं उसरूप होते हैं; जीव उसमें कुछ नहीं कर सकता। जीव के ज्ञान के कारण शब्द नहीं होते और शब्दों के कारण जीव का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान, जीव की स्वाधीन शक्ति से ही होता है।

ज्ञेय, भाषा और ज्ञान — इन तीनों की स्वतन्त्रता जानकर स्वभावोन्मुख होनेवाले को धर्म

घड़ी में आठ बजकर पाँच मिनट हुए हों, तब ज्ञान वैसा ही जानता है, किन्तु बारह बजे हैं — ऐसा नहीं जानता। वहाँ घड़ी के कारण ज्ञान नहीं हुआ है। घड़ी में इतने बजे हैं, इसलिए इतना ज्ञान हुआ — ऐसा नहीं है और ज्ञान ने जैसा जाना, वैसी ही भाषा आती है तथा सामनेवाला जीव भी वैसा ही समझ जाता है — ऐसा मेल होने पर भी, ज्ञान ने जाना, इसलिए भाषा नहीं हुई है और भाषा के कारण सामनेवाले जीव को वैसा ज्ञान नहीं हुआ है। ज्ञान की अवस्था स्वावलम्बी चैतन्य के आश्रय से ही कार्य करती है — ऐसा समझकर, अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर, त्रिकाली स्वभाव की श्रद्धा प्रगट करना, वह सम्यक्श्रद्धा है परन्तु घड़ी इत्यादि ज्ञेयों के कारण या शब्दों के कारण ज्ञान हुआ है — ऐसा माननेवाले जीव ने आत्मा में ज्ञान और शान्ति नहीं माने हैं; इस कारण वह जीव अपने स्वभाव की ओर नहीं ढ़लता और न उसका मिथ्यात्व दूर होता है।

जगत में प्रशंसा के शब्द परिणमित हों, उनसे आत्मा को सुख

या ज्ञान नहीं हैं, तथापि उनसे ज्ञान या सुख माने तो उस जीव का ज्ञान पर में लीन हुआ है, वह ज्ञान अचेतन है-अधर्म है। शब्दों से तथा उस ओर के क्षणिक ज्ञान से पृथक् अपना परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है — ऐसा अभिप्राय होने से शब्दों को या अपूर्णदशा को स्वीकार न करके वर्तमान अवस्था, पूर्ण स्वभावोन्मुख होती है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल पूर्ण हैं ही और उनकी ओर उन्मुख होनेवाली अवस्था भी परिपूर्ण को ही स्वीकार करती है, इस कारण वह अवस्था भी पूर्ण के आश्रय से पूरी ही होती है।

ज्ञानस्वभाव को जाने बिना ज्ञेय का स्वभाव नहीं जाना जा सकता

जो जीव, शब्दों का और उन्हें जाननेवाली ज्ञान-अवस्था का ही स्वीकार करता है, वह उनकी ओर ही देखता रहता है, किन्तु अपने स्वभाव को नहीं देखता। ज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान जहाँ से आता है — ऐसे अपने स्वभाव को जो स्वीकार नहीं करता, उसने वास्तव में ज्ञान का या ज्ञेय का भी यथार्थ स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि ज्ञान स्वत: होता है, उसे न जानकर शब्दों के कारण ज्ञान माना है, अर्थात् ज्ञान को स्वतन्त्र सत्रूप ही स्वीकार नहीं किया है, अब शब्द, ज्ञान से भिन्न है-अचेतन है, तथापि उन्हें ज्ञान का कारण माना है, उसने शब्दों को भी स्वीकार नहीं किया है।

शब्दों का स्वभाव ज्ञान में ज्ञात होने का है, किन्तु ज्ञान का कारण होने का नहीं है और ज्ञान का स्वभाव स्व-पर को अपने से जानने का है, पर में कुछ करने का उसका स्वभाव नहीं है — ऐसा समझे तो ज्ञान और ज्ञेय को यथार्थ जानना कहलाये। मेरी ज्ञानदशा अपने सामान्य ज्ञानस्वभाव के आश्रय से होती है और शब्द मेरे

कारण से नहीं, किन्तु परमाणु (भाषावर्गणा) के कारण से होते हैं; इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वभाव को स्वीकार करके अपने को जानते हुए पर को भी यथार्थ जानता है।

ज्ञान निश्चय से स्व को और व्यवहार से पर को जानता है

आत्मा निश्चय से तो अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होकर अपने को ही जाननेवाला है; पर को जाननेवाला तो व्यवहार से है। पर को जाननेवाला व्यवहार से है — ऐसा कहा है; उससे यहाँ ऐसा नहीं समझना कि आत्मा को परद्रव्य को जाननेरूप ज्ञान होता नहीं। आत्मा का ज्ञान, पर को जानता तो है ही, किन्तु परसन्मुख होकर पर को नहीं जानता, अपितु स्वभावसन्मुख रहने से परवस्तुएँ सहज ही ज्ञात हो जाती हैं। वहाँ ज्ञान पर को जानता है — ऐसा कहने से पर की अपेक्षा आती है, इसलिए उसे व्यवहार कहा है। पर से भिन्न रहकर पर को जानता है, इसलिए व्यवहार है और स्व में एकतापूर्वक स्व को जानता है, इसलिए स्व का ज्ञाता है, वह निश्चय है। इससे, जिस प्रकार स्व के ज्ञान बिना पर का ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता, यह बात भी इसमें आ जाती है।

प्रति समय ज्ञान का नवीन कार्य

अहो! नयी-नयी अपेक्षा से प्रतिदिन स्वभाव की बात आती है, उसे जानने में ज्ञान की विशालता है। ज्ञान का स्वभाव जानने का है। उसकी प्रति समय नवीन-नवीन अवस्थाएँ होती हैं और यदि वे नवीन-नवीन अवस्थाएँ नया-नया कार्य न करें, नया-नया ज्ञान न करें तो वे अवस्थाएँ ज्ञानस्वभाव के आश्रय से नहीं हुई है। यहाँ नवीन-नवीन निर्मलभावों का ज्ञान होता जाए — उसकी बात है।

साधकजीव को स्वभाव के आश्रय से प्रति समय ज्ञान की निर्मलता बढ़ती जाती है और विशेष-विशेष भावों का ज्ञान होता जाता है।

कोई ऐसा कहे कि 'यह तो जो कल जाना था, वही का वही ज्ञान है; कल सुना था, वही यह हैं — ऐसा माननेवाले का झुकाव शब्दों की ओर है। अपना सामान्यज्ञान प्रति समय बदलकर नवीन-नवीन कार्य ही करता है, इसका उसे विश्वास नहीं है। शब्दों के अवलम्बन बिना ही ज्ञान होता है। कल जो जाना था, उसमें तो कल की ज्ञानपर्याय ने कार्य किया था और जो वर्तमान में जानता है, उसमें वर्तमान ज्ञानपर्याय कार्य कर रही है; इस प्रकार जो अपने ज्ञान के पुरुषार्थ को स्वीकार नहीं करता, उस जीव को, जो ज्ञानपर्याय प्रति समय स्वभावोन्मुख होने का नवीन पुरुषार्थ कर रही है, उसकी खबर नहीं है।

साधकजीव को स्वभाव के आश्रय से प्रति समय ज्ञान की शुद्धता बढ़ती जाती है। प्रति समय बदलता हुआ ज्ञान का भाव है और सामने भी निमित्तरूप से प्रत्येक समय की शब्दों की अवस्था बदल रही है। वहाँ अपने ज्ञान को स्वीकार करनेवाला स्वभावोन्मुख होता है, वह धर्मी है; और जो जीव, शब्दों की ओर ढ़लता है, उसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है।

स्वभाव के अवलम्बन से प्रति समय धर्म

शब्दों से ज्ञान नहीं होता — ऐसा ज्ञान ने एक बार निर्णय किया, फिर दूसरे समय में वह दूसरे समय का ज्ञान स्वयं स्वभावोन्मुख होकर स्वतन्त्र निर्णय करता है। पहले समय का ज्ञान कहीं दूसरे समय कार्य नहीं करता। जो नवीन-नवीन अवस्थाएँ होती हैं, वह प्रत्येक अवस्था अपने त्रिकाली स्वभाव के अवलम्बन

को स्वीकार करती है और शब्दादि के अवलम्बन को नहीं स्वीकारती; इसलिए वैसे जीव को प्रति समय नवीन आत्मधर्म होता है। पूर्व की पर्याय ने अपने स्वकाल में कार्य कर लिया, पश्चात् जो नवीन अवस्था होती है, उसे पूर्व पर्याय के साथ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु वर्तमान वर्तती पर्याय स्वयं उस समय त्रिकालीस्वभाव के साथ एकता करती है, वह धर्म है; इसलिए प्रत्येक समय का धर्म स्वतन्त्र है। प्रति समय नवीन-नवीन दशा में नया-नया धर्म (विशेष-विशेष निर्मलता) होता है।

जिसे अपने ज्ञान में शब्दादि ज्ञेयों की ही नवीनता भासित होती है, किन्तु उस समय अपने ज्ञान में विशेष-विशेष अवस्था होती जाती है, उस ज्ञान की सामर्थ्य भासित नहीं होती, वह जीव अपने त्रिकाली ज्ञानस्वभाव के साथ वर्तमान पर्याय की सन्धि नहीं करता, किन्तु ज्ञेयों के साथ ज्ञान की एकता करता है-मानता है, वह अज्ञानी है, उसे प्रति समय अधर्म होता है।

'शब्द है, वह ज्ञान नहीं है' — ऐसा कहने से निन्दा के या प्रशंसा के, ज्ञानी के या अज्ञानी के सभी शब्द उसमें आ जाते हैं। आत्मा प्रति समय अपने ज्ञानरूप परिणमित होता है, और सन्मुख ज्ञेयरूप में भिन्न-भिन्न शब्दादि परिणाम है। मेरा चैतन्यपरिणामरूप धर्म प्रति समय स्वभाव के आश्रय से होता है — ऐसी रुचि और विश्वास द्वारा त्रिकाली द्रव्य के साथ वर्तमान परिणाम की एकता होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है, वह धर्म है।

आह्लाद कैसे प्रगट हो?

श्री आचार्यदेव करुणापूर्वक कहते हैं कि अरे! हे जीव! तू अपने स्वाधीन आत्मतत्त्व को भूलकर पर्याय-पर्याय में पराधीन हो

रहा है। शब्दादि नवीन-नवीन होते हैं, उनकी नवीनता से तुझे आह्लाद लगता है, परन्तु भाई! तेरा ज्ञान तो उनसे बिल्कुल भिन्न है। पर में तेरा आह्लाद नहीं है। तेरे आत्मा के स्वभाव में से प्रति समय नवीन-नवीन भाव आते हैं, उनका आह्लाद तुझे क्यों नहीं है?

हे भाई! अपने ज्ञान में तू पर की रुचि और ममत्व छोड़कर, अपनी वर्तमान पर्याय में त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की रुचि तो कर! अपनी पर्याय को अपने द्रव्य के साथ मेल तो कर! यदि अपनी पर्याय को अपने द्रव्य के साथ अभेद करके, उसका विश्वास करे तो अपने द्रव्य में से आनेवाले अतीन्द्रिय आह्लाद का अनुभव तुझे उस पर्याय में हो!

शब्दों का अवलम्बन छोड़कर आत्मा का आश्रय कर!

हे भाई! तू अन्तर में विचार कर कि जिस समय श्रुत के श्रवण का या निन्दा-प्रशंसादि अन्य शब्दों के श्रवण का काल है, उस काल में उन शब्दों को जानने जितना ज्ञान ही क्या तेरा स्वरूप है? या उसके अतिरिक्त अन्य भी कुछ तुझमें है? शब्द है, वह ज्ञान नहीं है और शब्दों को ही जानने जितना तेरा स्वरूप नहीं है परन्तु शब्दों का लक्ष्य छोड़कर, अन्तरोन्मुख होने से त्रिकाल आत्मस्वभाव की रुचि करके उसे जो ज्ञान जाने, वह ज्ञानपरिणाम आत्मा है। आत्मा और उसकी ओर उन्मुख ज्ञानपरिणाम पृथक् नहीं है, किन्तु शब्द और ज्ञान तो भिन्न हैं। शब्दों की ओर एकाग्र होता हुआ ज्ञान भी परमार्थत: आत्मस्वभाव से भिन्न है। शब्द अचेतन हैं और ज्ञान चेतन है, उन दोनों का भिन्नत्व है।

आत्मा, शब्दों के कारण या उनके अवलम्बन से नहीं जानता। जिस ज्ञान में शब्दार्थ का अवलम्बन है, वह ज्ञान, आत्मस्वभाव को जानने का कार्य नहीं कर सकता; इसलिए वह मिथ्याज्ञान है।

इस प्रकार जो जीव, शब्द और ज्ञान की भिन्नता को समझता है, वह शब्दादि के साथ एकत्वबुद्धि छोड़कर, उनसे उदासीन होकर अपने स्वभाव की रुचि करता है। त्रिकाली चैतन्य की रुचि और आश्रय से जो ज्ञानपरिणाम प्रगट हुए, वह सम्यग्ज्ञान है, उसे जिनेन्द्र भगवान ने धर्म कहा है।

जीव-अजीव का स्वतन्त्र अस्तित्व और परिणमन

इस जगत में अनादि से अजीव परमाणु हैं, इसलिए जीव है — ऐसा नहीं है; और जीव है, इसलिए अजीव है — ऐसा भी नहीं है। जीव और अजीव दोनों तत्त्व अपने-अपने स्वतन्त्र स्वभाव से अनादिकालीन हैं। जिस प्रकार जीव और अजीवद्रव्यों का अस्तित्व एक-दूसरे के कारण नहीं है; उसी प्रकार उनकी पर्याय भी एक दूसरे के कारण नहीं होती। ज्ञान कहीं शब्दों को नहीं करता और न शब्दों के कारण ज्ञान होता है। इस प्रकार शब्दों से भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करना, वह अपूर्व सम्यक्त्व धर्म है।

वर्णन में क्रम... भेदज्ञान में क्रम नहीं

इस प्रकार शब्द से भेदज्ञान कराके अब, रूप से भेदज्ञान कराते हैं। वास्तव में तो जो जीव, शब्द और ज्ञान का भेदज्ञान करता है, उसे रूपादि से भी भेदज्ञान होता ही है। अपने ज्ञानस्वभाव का शब्दों से भिन्नत्व जाने और रूपादि से भिन्नत्व न जाने — ऐसा होता ही नहीं। अस्तिरूप से जिसने अपने ज्ञानस्वभाव को जाना है, उसने शब्द-रूप-रस-राग-द्वेषादि सर्व लोकालोक से अपनी भिन्नता जान ली है, किन्तु यहाँ मात्र वर्णन में क्रम पड़ता है। विशेष-विशेष पहलुओं से समझाने से क्रम पड़ता है; इसलिए पहले शब्द से भिन्नत्व समझाकर, अब रूप से भिन्नत्व का वर्णन करते हैं। ●●

रूप से ज्ञान का भिन्नत्व

रूप, ज्ञान नहीं है, क्योंकि रूप (पुद्गलद्रव्य का गुण है), अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और रूप के व्यतिरेक है (अर्थात् दोनों भिन्न हैं)।

रूप है, वह ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप अचेतन है; इसलिए रूप और ज्ञान पृथक् है। रूप, आँख का विषय है। आँख के द्वारा ज्ञान जो कुछ जानता है, वह सब अचेतन है। भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न रूप का ज्ञान होता है, वहाँ रूप के अवलम्बन से ज्ञान का अस्तित्व नहीं है, परन्तु अपने त्रिकाली आत्मा के आधार से ज्ञानपर्याय का अस्तित्व है। प्रति समय नवीन-नवीन ज्ञानपर्यायें अपने त्रिकाली ज्ञानस्वभाव में से होती है। जो जीव उस स्वभाव को न देखकर, रूप के अवलम्बन से ज्ञान मानते हैं, उन्हें आत्मा की प्रतीति नहीं है।

मूर्ति या चित्र के कारण ज्ञान नहीं होता

बालक, घोड़ा, हाथी, सिंह इत्यादि जो रूप दिखाई देते हैं, उनमें ज्ञान नहीं है और जो बड़े-बड़े धार्मिक चित्र होते हैं, उनमें भी ज्ञान नहीं है; वह तो पुद्गल के रूपगुण की अवस्था है। रूप अचेतन है, उसमें किंचित् ज्ञान नहीं है और आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान है। रूप के कारण आत्मा नहीं जानता। भगवान की मूर्ति भी रूप

में है, उसमें ज्ञान नहीं है। महावीर भगवान का चित्र या मूर्ति हो, उसे जानते समय उसके कारण महावीर भगवान का ज्ञान नहीं हुआ है।

जैसे ज्ञेय होते हैं, वैसा ही उन्हें ज्ञान जानता है : तथापि ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं

प्रश्न : यदि सामनेवाले चित्र या मूर्ति के कारण ज्ञान न होता हो तो, जब सामने महावीर भगवान की मूर्ति हो, तब उनका ज्ञान होता है और सीमन्धर भगवान की मूर्ति हो, तब उनका ज्ञान होता है — ऐसा क्यों? और यदि सामने समयसार हो तो उसका ज्ञान होता है तथा प्रवचनसार हो तो उसका ज्ञान होता है — ऐसा क्यों होता है?

उत्तर : ज्ञान का स्वभाव पदार्थ को यथावत् जानने का है। जो जैसा हो, उसे वैसा ही जानने का ज्ञान का स्वभाव है। ज्ञानस्वभाव विपरीत नहीं जानता; इसलिए जैसा ज्ञेय हो, वैसा ही ज्ञान में ज्ञात होता है परन्तु जानने की योग्यता ज्ञान की अपनी ही है। सामने वैसा ज्ञेय है, इसलिए उसी प्रकार ज्ञान होता है — ऐसा नहीं है। ज्ञान, ज्ञान के कारण होता है और ज्ञेय उनके अपने कारण होते हैं। रूप के समय यदि उस रूप के कारण ज्ञान होता हो तो आत्मा ने उस समय क्या कार्य किया? क्या उस समय आत्मा चला गया है? जिसने रूप के कारण ज्ञान माना है, उसने आत्मा का अस्तित्व ही नहीं माना है। ज्ञान, आत्मा का स्वभाव है — ऐसी प्रतीति उसे नहीं हुई, किन्तु रूप और ज्ञान की एकता मानी है, वही अधर्म है।

अज्ञानी को अधर्म और ज्ञानी को धर्म.... क्योंकि...

मैं अपने ज्ञान से ही जानता हूँ, रूप के कारण नहीं; इस प्रकार रूप से अपने भिन्नत्व का निर्णय करके, धर्मी जीव अपने ज्ञानस्वभाव

का आश्रय करते हैं और रूप का आश्रय छोड़ते हैं। स्वभाव के आश्रय से जो पर्याय प्रगट होती है, वह धर्म है। भगवान की मूर्ति देखते समय भी, अज्ञानी को अधर्म होता है क्योंकि उसने अपने ज्ञान को पराश्रित माना है। अचेतन मूर्ति के साथ ज्ञान को एकमेक माना है, वह मान्यता ही अधर्म का मूल है; और धर्मी जीव, पुत्रादि का रूप देखता हो, उस समय भी धर्म होता है। यह ध्यान रखना कि रूप को देखने का भाव तो राग है, उस राग को कहीं धर्म का कारण नहीं कहते हैं, परन्तु उसी समय धर्मी जीव के अभिप्राय में ज्ञानस्वभाव का आश्रय है, इसलिए ज्ञानस्वभाव के आश्रय से उसे प्रति समय धर्म होता है; एक समय भी धर्म के बिना नहीं जाता। जितना राग है, उतना दोष है।

रूप अचेतन है। मेरा आत्मा, रूप से पृथक् है; रूप के कारण मुझे ज्ञान नहीं होता और रूप को जाननेवाली पर्याय जितना भी मैं नहीं हूँ; मेरा आत्मस्वभाव ज्ञान से पूर्ण है, इस प्रकार ज्ञानी की पर्याय, स्वभाव की स्वीकृति करके (द्रव्यदृष्टि करके) परिणमित होती है, इसलिए उसकी पर्याय प्रति समय द्रव्यस्वभाव में ढलती है, इसलिए रूप आदि को देखते समय भी उसे धर्म है क्योंकि उस समय चैतन्य का आश्रय नहीं छूटता।

प्रत्येक साधकजीव को स्वभावदृष्टि की समानता

साधकजीवों को प्रति समय पर्याय की शुद्धता बढ़ती जाती है, किन्तु उनकी दृष्टि उन पर्यायों पर नहीं होती। प्रति समय होनेवाली प्रत्येक अवस्था, पूर्ण चैतन्यस्वभाव को ही स्वीकार करती है; प्रत्येक अवस्था पूर्ण स्वभाव के साथ ही एकता करती है। गणधरदेव की अवस्था या छोटे से छोटे सम्यग्दृष्टि की अवस्था — यह दोनों

अवस्थाएँ, त्रिकालीस्वभाव में ही अभेद होती हैं, इसलिए इस अपेक्षा से वे दोनों समान हैं। अहो! यह स्वभावदृष्टि की अपूर्व बात है!! जो यह समझ ले, उसका कल्याण हो जाए।

स्वभावोन्मुख होकर आत्मा का निर्णय करनेवाले मति-श्रुतज्ञान की प्रत्यक्षता

आत्मस्वभावोन्मुख हुआ मति-श्रुतज्ञान भी वास्तव में प्रत्यक्ष है। आत्मा ज्ञानस्वभाव है, उसकी अवस्था में पहले अल्प ज्ञान था और फिर अधिक ज्ञान हुआ; वह अधिक ज्ञान कहाँ से आया? त्रिकालशक्ति में से ज्ञान प्रगट होता है। उस त्रिकाली ज्ञानशक्ति का निःसन्देह निर्णय, इन्द्रियों और राग के अवलम्बन बिना, सीधा अपने आत्मा से ही किया है, इसलिए वह निर्णय करनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। यदि किसी पर की अपेक्षा से-पर के आश्रय से निर्णय किया हो तो वह निर्णय ही सच्चा नहीं है। स्वभाव का निर्णय पर के अवलम्बन से नहीं होता। मति-श्रुतज्ञान, स्वभाव के आश्रय से स्वभाव का निर्णय करते हैं, इसलिए स्व को जानने में तो मति-श्रुतज्ञान भी प्रत्यक्ष हैं।

जीव का ज्ञानस्वभाव और रूप का ज्ञेयस्वभाव

अपने चेतनस्वभाव से आत्मा का अस्तित्व है और उस स्वभाव के कारण ज्ञान होता है। शरीर के रूप के कारण आत्मा का अस्तित्व नहीं है। अचेतन पदार्थों में भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती रहती हैं और वे ज्ञान का ज्ञेय हों — ऐसी उनमें शक्ति है, परन्तु ज्ञान का कारण होने की शक्ति उनमें नहीं है। ज्ञान की अवस्था अपने ज्ञानस्वभाव के बदलने-परिणमित होने से होती है। स्त्री, शरीर, लक्ष्मी और जिनप्रतिमा आदि अचेतन हैं, उनके कारण मेरा ज्ञान

या सुख नहीं है। अज्ञानी जीव, परवस्तु के कारण ज्ञान या सुख मानता है, वह उसका भ्रम है। ज्ञानी जानता है कि मेरा ज्ञान और सुख मेरे कारण है और ज्ञेय पदार्थ उनके अपने कारण है।

रूप और ज्ञान के भेदविज्ञान से धर्म का अपूर्व प्रारम्भ

जो जीव, रूपादि परवस्तुओं के कारण अपना ज्ञान मानते हैं; अथवा उन रूपादि को जानने जितना ही अपने ज्ञान को मानते हैं, उन जीवों को परवस्तु की रुचि दूर नहीं होती और उसमें सुख की मान्यता नहीं मिटती; इसलिए उन्हें कभी सच्चा वैराग्य या त्याग नहीं होता। मेरा ज्ञान, रूपादि से भिन्न है; रूप को देखते समय उतने ही ज्ञान जितना मैं नहीं हूँ और रूप के आधार से मेरा ज्ञान नहीं है; मेरा ज्ञान तो त्रिकालस्वभाव के आधार से है; इस प्रकार यदि स्वभाव की रुचि करे तो परावलम्बन दूर होकर स्वाधीनता होती है। रूपादि से ज्ञान भिन्न है — ऐसा निर्णय करनेवाले को कभी रूपादि विषयों में सुखबुद्धि नहीं होती; अतः ज्ञानस्वभाव का सच्चा निर्णय करते ही अनन्त राग-द्वेष तो दूर हो ही गया, और धर्म का अपूर्व प्रारम्भ भी हो गया।

आत्मा के अवलम्बन से धर्म... पर के अवलम्बन से अधर्म

ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है और रूप, अचेतन है। रूप में ज्ञान नहीं है। शरीर के रूप के साथ ज्ञान का सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान को रूप का अवलम्बन नहीं है, किन्तु उसे तो आत्मा का ही अवलम्बन है। इस प्रकार आत्मस्वभाव का अवलम्बन करके जो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप स्वावलम्बीदशा प्रगट हो, वह धर्म है। देव-गुरु-शास्त्र के आश्रय से सम्यक्त्व माननेवाला, शास्त्र के आश्रय से ज्ञान माननेवाला और व्रतादि शुभराग के आश्रय से

चारित्र माननेवाला जीव, अपने स्वभाव को नहीं मानता, अपितु परावलम्बन को मानता है। वह जीव, परावलम्बन छोड़कर स्वभाव का अवलम्बन नहीं करता, अर्थात् स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और उसमें स्थिरता नहीं करता; इस कारण उसे वीतरागता या केवलज्ञान नहीं होता; धर्म का अंश भी नहीं होता।

जो जीव किसी अन्य वस्तु की उपस्थिति से अपने को सुखी मानता है, वह अपने स्वभाव में सुख का स्वीकार नहीं करता; इसलिए उसे कभी स्वभाव का सच्चा सुख प्रगट नहीं होता। धर्मात्मा जानता है कि मेरा सुख त्रिकाल चैतन्यसत्ता के आश्रित है, उसमें किसी अन्य के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है; इस कारण वह अपने आत्मा की चैतन्यसत्ता के आधार से सच्चे सुख का अनुभव करता है।

राग-द्वेष के समय भी धर्मी को धर्म

धर्मी जीव को राग-द्वेष हो, उस समय भी भान होता है कि यह राग-द्वेष की उत्पत्ति चैतन्य के आश्रय से नहीं है, किन्तु पर के आश्रय से है। चैतन्य के आश्रय में सम्पूर्णतया नहीं रहा जा सका, इसलिए राग-द्वेष हुए हैं। उस समय भी मेरा ज्ञान उस राग के अवलम्बन से नहीं जानता। मैं स्वभाव का अवलम्बन रखकर राग का ज्ञाता हूँ, परन्तु राग का अवलम्बन करके उसका ज्ञाता नहीं हूँ। आदि-अन्तरहित ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन करने से ज्ञान और सुख है — ऐसी सम्यक्श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान होने पर भी, धर्मी को जो राग-द्वेष हो जाता है, वह चारित्रदोष है। धर्मी को उस दोष का अवलम्बन नहीं है, किन्तु दोषरहित चैतन्यस्वभाव का ही अवलम्बन है; इसलिए उसे प्रतिक्षण शुद्धता होती जाती है और दोष दूर होता

जाता है। इस प्रकार राग-द्वेष के समय भी (धर्मी को) स्वभाव के अवलम्बन से धर्म होता है।

कैसे होते हैं अधर्म और धर्म ?

अज्ञानी जीव, त्रिकाली चैतन्यतत्त्व की सत्ता को भूलकर प्रतिक्षण पराधीनता से दब रहा है, वह अधर्म है। यदि त्रिकाली आत्मद्रव्य को स्वतन्त्र स्वीकार करे तो उस त्रिकाली के वर्तमान को भी स्वतन्त्र स्वीकार करे; इससे पर्याय में भी पर का अवलम्बन न माने और स्वद्रव्य का आश्रय करके शुद्धता प्रगट करे। शरीरादि से आत्मा पृथक् है — ऐसा माने तो, शरीर की दशा उसके अपने कारण से है और अपनी दशा अपने कारण है—ऐसा स्वीकार करे; इससे स्वाधीन श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होकर, स्थिरता द्वारा वीतरागता और केवलज्ञान हो और भव-भ्रमण दूर हो जाए। इसमें धर्म के प्रारम्भ से लेकर पूर्णता तक की सारी बात आ गयी; और अधर्म कैसे होता है, वह भी आ गया।

स्व-पर के भेदविज्ञान से धर्म और एकत्वबुद्धि से महा अधर्म

आत्मा और परवस्तु भिन्न है, इसलिए उन भिन्न वस्तुओं के कारण आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र नहीं है — ऐसा यथार्थ निर्णय करनेवाला जीव, परावलम्बन छोड़कर स्वाश्रय करता है; फिर पर्याय-पर्याय में स्वावलम्बन से श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता प्रगट करता रहता है और परावलम्बन तोड़ता जाता है — ऐसी आत्मदशा का नाम धर्म है। जो जीव, स्वावलम्बन नहीं करता और परावलम्बन नहीं छोड़ता, उसने वास्तव में स्व और पर को पृथक् नहीं जाना हैं, अपितु एक माना है — ऐसी मान्यता ही महा अधर्म है।

समझने के लिए उत्साह

यदि आत्मा रुचिपूर्वक समझना चाहे तो यह बात बिल्कुल सरल है। आत्मा की समझ में आने योग्य है। आत्मा स्वयं जैसा है, उसकी यह बात है। आत्मा की बात किसकी समझ में नहीं आती? सभी आत्माओं की समझ में आ सकती है। आत्मा का स्वभाव ही ज्ञाता है; इसलिए जो आत्मा हो, उसमें सबकुछ समझने की शक्ति है। जड़ में ज्ञान नहीं है, इसलिए जड़ की समझ में कुछ नहीं आता। इस बात को सुनने के लिए यहाँ जड़ नहीं बैठे हैं, जड़ को समझने के लिए यह बात नहीं हो रही है, किन्तु जड़ से भिन्न ज्ञानतत्त्व है, उसे समझने के लिए यह बात है।

विश्व के प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ की स्वतन्त्रता और परिपूर्णता

जिस प्रकार मैं आत्मा अपने चैतन्यस्वभाव से परिपूर्ण हूँ, मेरे चैतन्य को पर की अपेक्षा नहीं है; उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य अपने रूपस्वभाव से परिपूर्ण है, उसे दूसरे की अपेक्षा नहीं है। रूप अपने रूपस्वभाव से परिपूर्ण हैं और मेरे चैतन्य का उसमें अभाव है। मैं अपने ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण हूँ, और रूप से शून्य हूँ। परमाणुपदार्थ अपने रूपादि स्वभाव से परिपूर्ण हैं। यदि ज्ञान उसे बदलना चाहे तो नहीं बदल सकता। उसके त्रिकालीस्वभाव का वर्तमान उसके अपने आधार से स्वतन्त्र है; उसका वह वर्तमान अंश दूसरे का अवलम्बन नहीं करता। काली अवस्था में से सफेद अवस्था होने के लिए वह पुद्गलद्रव्य अपनी परिपूर्ण शक्तिवाला है, उसे बदलने के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। आत्मा की उपस्थिति हो, तभी वह बदले; अन्यथा नहीं — ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। अनन्त आत्मा

एकत्रित होकर भी एक परमाणु को काली अवस्था में से सफेद अवस्थारूप नहीं बदल सकते। उसकी अवस्था उसके स्वभाव से क्रमबद्ध होती रहती है, क्योंकि वह अपने रूपादि स्वभाव से परिपूर्ण है; वह अपनी परिपूर्ण सामर्थ्य को धारण करनेवाला है और आत्मा के ज्ञान का उसमें बिल्कुल अभाव है।

पुद्गल में रूपादि स्वभावसामर्थ्य से पूर्णता है परन्तु उसके अवलम्बन से आत्मा को श्रद्धा-ज्ञानादि हों — ऐसा कोई सामर्थ्य उसमें नहीं है। पुद्गल में ऐसा स्वभाव ही नहीं है कि वह (पुद्गल) आत्मा के ज्ञान का या आनन्द का कारण हो।

जीव अपने चैतन्यसामर्थ्य से परिपूर्ण तथा अचेतन से रहित है। जीव का ऐसा स्वभाव नहीं है कि उसे अपने ज्ञान और आनन्द के लिए पर का अवलम्बन लेना पड़े।

अहो! सारा जगत् स्वतन्त्र और परिपूर्ण है; जड़ और चेतन प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव से परिपूर्ण हैं। इसमें तो वीतरागता और सर्वज्ञता ही आ जाती है। ऐसे स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव को न मानकर, आत्मा के कारण पर की क्रिया होती है और परवस्तु के अवलम्बन से आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द होते हैं — ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है, भ्रम है; वही संसार है, वही अधर्म है और वही महापाप है।

आत्मा का सम्यग्ज्ञान

आत्मा सत् पदार्थ है। 'है' अर्थात् वह भूतकाल में नहीं हुआ है; 'है' अर्थात् भविष्य में वह नाश को प्राप्त नहीं होता; और 'है' अर्थात् वर्तमान में विद्यमान है। आत्मा संयोगरहित अनादि-अनन्त वस्तु है; उस वस्तु की ज्ञान के साथ एकता है और रूपादि से

पृथक्त्व है। आत्मा चैतन्यरूप से भरा हुआ है और पर के रूप से शून्य है। पर से भिन्नत्व कहते ही स्वयं से पूर्णता है — ऐसा आ जाता है। यदि वस्तु स्वयं अपूर्ण हो तो उसे पर का सम्बन्ध हो। पर के सम्बन्ध से यदि आत्मा को लक्ष्य में लिया जाए तो उसका यथार्थ पूर्ण स्वभाव ज्ञात नहीं होता। पर के सम्बन्ध बिना ही आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण है, वह वर्तमान में भी स्वतन्त्र है; इसलिए ज्ञान को पर का आश्रय नहीं हैं, किन्तु स्वभाव का ही आश्रय है। सम्यग्ज्ञान के लिए पर की ओर नहीं देखना पड़ता, किन्तु अपने स्वभाव को जानने से सम्यग्ज्ञान होता है।

कैसा होता है आत्मा को पर से भिन्न माननेवाला जीव?

जो ज्ञान को पर का आश्रय मानता है, उसने आत्मा को पर से भिन्न नहीं माना है। पर से भिन्नत्व की श्रद्धा करने के पश्चात् ज्ञानी को अस्थिरता के कारण परोन्मुखता होती है, किन्तु उस समय भी वह पर से और उस ओर के झुकाव से पृथक् रहकर, स्वभाव के ही आश्रय से परिणमित होता है। परोन्मुखता होती है, उसे जानता है परन्तु उसका आश्रय नहीं मानता — यह साधकदशा है।

धर्म कैसे और कहाँ होता है?

धर्म, अर्थात् आत्मा की पवित्रदशा; वह पवित्रदशा कैसे होती है? आत्मा की उस दशा के लिए अन्य-शरीरादि पदार्थ तो काम नहीं आते और पूर्व की अवस्था भी काम नहीं आती, किन्तु वर्तमान में त्रिकालीस्वभाव का पूर्ण स्वरूप से अस्तित्व है, उसका स्वीकार करके उसकी पूर्णता के अवलम्बन से पवित्रदशा प्रगट होती है और राग-द्वेष दुःख दूर हो जाते हैं। ऐसी आत्मा की दशा ही धर्म है। इसके अतिरिक्त शरीर की किसी दशा में या राग में धर्म नहीं है।

स्व-पर का भिन्नत्व

मैं आत्मा हूँ — ऐसा कहते ही आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं, किन्तु वह मैं नहीं हूँ, अर्थात् मैं पर से पृथक् हूँ — ऐसा उसमें आ जाता है। यदि त्रिकाली वस्तुओं का अस्तित्व पृथक्-पृथक् ही है तो उन त्रिकाली की वर्तमान अवस्थाएँ भी पृथक्-पृथक् ही हैं; किसी को एक-दूसरे की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार जो स्वीकार नहीं करता, उसने वस्तुओं को ही भिन्न-भिन्न नहीं माना है।

पर कर्तृत्त्व की मान्यता में स्व-पर की हत्या

मैं बाह्य का कुछ करता हूँ — इस मान्यता में स्व और पर — दोनों वस्तुओं के स्वभाव की हत्या होती है। 'मैं पर का करूँ' उसका अर्थ यह हुआ कि पर वस्तुएँ तो स्वतन्त्र सत् पदार्थ ही न हों! और 'मैं पर का करूँ' अर्थात् मेरा अस्तित्व पर में ही हो! तू अपने ज्ञानस्वरूप को पर से बिल्कुल भिन्न जान और पर में अहंकार को छोड़! शरीर बिगड़ जाए तो उसे सुधारने की कल्पना करता है, परन्तु जीव की कल्पना शरीर में नहीं चलती, अर्थात् वह कल्पना व्यर्थ जाती है। इसलिए शरीर और उस ओर की होनेवाली कल्पनाएँ — दोनों से तेरा स्वरूप पृथक् है, उनके आश्रय से तेरा ज्ञान नहीं जानता, अपितु ज्ञान से परिपूर्ण अपने अखण्ड चैतन्यस्वभाव का आश्रय करके ज्ञान जानता है — ऐसे ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना ही अपूर्व आत्मधर्म है।

...तब तक सामायिकादि किसी भी प्रकार का धर्म नहीं होता

जब तक स्वयं अपने आत्मा को यथावत् न जाने और आत्मस्वभाव की महिमा न आये, तब तक समभावरूप सामायिक

कहाँ से होगी ? और मिथ्यात्वादि पापों से विमुख होनेरूप प्रतिक्रमण भी किसका होगा ? और परभावों के त्यागरूप प्रत्याख्यान भी कैसे होगा ? अपने चैतन्यस्वभाव को न जानकर, पर के साथ आत्मा की एकता माननेवाला जीव, कभी पर के सम्बन्ध से पृथक् होकर स्वभाव में नहीं आता, अर्थात् उसे मुक्ति नहीं होती और न किसी प्रकार धर्म ही उसे होता है।

ज्ञान और ज्ञेय का स्वतन्त्र परिणमन

ज्ञान का स्वभाव पदार्थों को यथावत् जानने का है। जैसा पदार्थ सन्मुख हो, वैसा ही ज्ञान जानता है, किन्तु वहाँ सामनेवाले पदार्थ के कारण ज्ञान नहीं होता; ज्ञान अपनी शक्ति से ही अपनी योग्यतानुसार जानता है। ज्ञान विपरीत नहीं जानता, किन्तु यथावत् जानने का ही उसका स्वभाव है।

देखो ! इस समय घड़ी में 'नौ में दस मिनिट कम' हुए हैं; ज्ञान भी वैसा ही जानता है; वाणी परिणमित हो तो वह भी 'नौ में दस मिनिट कम हुए' — ऐसी परिणमित होती है और उस वाणी को सुनकर सामनेवाले जीव को भी वैसा ही ज्ञान होता है। वहाँ घड़ी का परिणमन स्वतन्त्र है, वाणी स्वतन्त्र है और सामनेवाले जीव का ज्ञान भी स्वतन्त्र है। सारा विश्व स्वतन्त्रतया परिवर्तित हो रहा है। अनेक पदार्थों की क्रिया एक काल में होने पर भी प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है।

अनेक पदार्थों का अस्तित्व समकालीन परन्तु पारस्परिक सम्बन्ध का अभाव

भिन्न-भिन्न पदार्थों की क्रियाएँ एक ही काल में होती हैं; वहाँ वस्तु के पृथक् स्वभाव की न देखनेवाला अज्ञानी जीव, एक दूसरे

पदार्थों में कर्ता–कर्मपने का मेल मान लेता है, किन्तु पृथक् पदार्थों का मेल कैसा ? एक काल में दो पदार्थों का कार्य हो तो उससे क्या ? इस जगत् में ऐसा कौन–सा काल है कि जिस काल में छहों द्रव्यों का कार्य न होता हो ? आत्मा और परमाणु अनादि काल से एक स्थान में रह रहे हैं, एक ही काल में दोनों का अस्तित्व है। दो पदार्थों के अस्तित्व का एक काल हो तो उससे कहीं उन पदार्थों की एकता नहीं हो जाती। प्रत्येक पदार्थ का स्वतन्त्र अस्तित्व है और अपने–अपने स्वकाल में ही प्रत्येक पदार्थ परिणमित होता है।

अज्ञानी को त्रिकाली द्रव्य का आश्रय करके सत् की स्वतन्त्रता भासित नहीं होती और वह स्व–पर का सम्बन्ध मानता है, एकत्व मानता है; इसलिए उसे पर से भिन्न स्वभाव का आश्रय नहीं होता और मुक्ति का उपाय नहीं मिलता। जो यथार्थरूप से स्व–पर के भिन्नत्व को जानता है, वह जीव, पराश्रय छोड़कर स्वाश्रय करता है और स्वाश्रय से केवलज्ञान होने से वह समस्त पदार्थों को एक ही साथ प्रत्यक्ष जानता है परन्तु उसके राग–द्वेष नहीं होते। पहले जब राग–द्वेष में रुकता था, तब ज्ञान पूर्ण नहीं जानता था, अब स्वभाव में लीन हुआ ज्ञान, पूर्ण जानता है और राग–द्वेष में नहीं रुकता तथा उस ज्ञान में किञ्चित् दुःख नहीं है।

अहो! स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव

ज्ञान अपने ज्ञानस्वभाव से पूर्ण है और रूप उसके रूप –स्वभाव से। दूसरे अनन्त पदार्थ उन्हें अन्यथा बदलना चाहें तो भी नहीं बदल सकते, क्योंकि वस्तुस्वभाव स्वतः ही पूर्ण है; उस पर दूसरों की सत्ता नहीं चल सकती। रूप है, वह परमाणु का स्वभाव है; उस रूप को बदलकर उसे रस आदिरूप करने की

किसी की शक्ति नहीं है। जो जीव, पर को बदलना मानता है, वह जीव भी पर को नहीं बदल सकता, किन्तु विपरीत अभिप्राय से/ पराश्रय से मात्र स्वयं दु:खी होता है।

वर्तमान अंश को स्वतन्त्र जानने से धर्म

आत्मा अपने ज्ञान-सुख इत्यादि अनन्त भावों से पूर्ण है; उसका वर्तमान अंश भी स्वतन्त्र है। वह अंश त्रिकाली द्रव्य के अवलम्बन बिना कहीं अधर से नहीं होता; इसलिए वास्तव में जिसने वर्तमान अंश को स्वतन्त्र माना है, उसकी दृष्टि अंशी पर जाती है; त्रिकाली द्रव्य की श्रद्धा हुई कि मेरी श्रद्धा-ज्ञानादि सर्व अवस्थाएँ इस द्रव्य के आधार से हैं — वहाँ सम्यक्श्रद्धा और सम्यग्ज्ञानरूप धर्म हुआ।

प्रत्येक समय के ज्ञान की योग्यता

प्रश्न : वधिर मनुष्य दूर बैठा हो तो वह सुन नहीं सकता और निकट बैठा हो तो सुन सकता है; इसलिए वाणी के अवलम्बन से ही ज्ञान हुआ न?

उत्तर : ऐसा नहीं है; ज्ञान की योग्यतानुसार ही ज्ञान होता है। दूर या निकट होने से क्या? ज्ञान तो कहीं वाणी में चला नहीं जाता; वह तो अपने समय (पर्याय) में रहकर ही काम करता है। दूर है, उस समय भी ज्ञान का समय (ज्ञान की पर्याय) भिन्न है और निकट है, उस समय भी ज्ञान का समय (पर्याय) भिन्न है — दोनों समय का ज्ञान का समय अपने-अपने समय में पृथक्-पृथक् कार्य करता है। दूर होने के समय ज्ञान की योग्यता वैसी वाणी को जानने की नहीं थी, किन्तु दूसरा कुछ जानने की योग्यता थी। प्रत्येक समय ज्ञान की स्वतन्त्र योग्यता के अनुसार ही ज्ञान होता है।

त्रिकाली ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा के बिना प्रत्येक समय की स्वतन्त्रता की श्रद्धा नहीं होती। ज्ञान की भिन्न-भिन्न योग्यता के अनुसार ज्ञेयों का संयोग भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, वहाँ पर संयोग की उपस्थिति के कारण ज्ञान होता है — ऐसा जो मानता है, वह जीव अपनी स्वतन्त्र ज्ञानसामर्थ्य की हत्या करता है। उसी प्रकार पदार्थों की अवस्था उन-उन पदार्थों की योग्यतानुसार होती है, उस समय अपनी उपस्थिति होती है, इसलिए — 'मेरे कारण यह कार्य हुआ' — ऐसा माननेवाला भी अज्ञानी है।

...ऐसा माननेवाले ने वस्तु को ही सत् नहीं माना

जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य स्वतन्त्र है, उसका कोई कर्त्ता नहीं है; वैसे ही उसकी पर्यायें भी स्वतन्त्र हैं, उनका कोई कर्त्ता नहीं है। कोई कहे कि परमाणु द्रव्य तो स्वतन्त्र है, वह किसी ने बनाया नहीं है, परन्तु उसकी अवस्था मेरे कारण होती है; मैं जैसी अवस्था करूँ, वैसी होती है — तो ऐसा माननेवाले जीव ने परमाणुद्रव्य को ही स्वतन्त्र नहीं माना है, क्योंकि द्रव्य क्या अपनी अवस्था से रहित होता है कि दूसरा उसकी अवस्था करे? परवस्तु के द्रव्य-गुणों को तो मैं नहीं कर सकता, किन्तु पर्याय को कर सकता हूँ — ऐसा जिसने माना है, उसने द्रव्य-गुणों को पर्यायरहित ही माना है। यदि द्रव्य-गुण को स्वतन्त्र जाने तो उनकी पर्यायों को भी उनके आधार से स्वतन्त्र ही मानेगा।

अपने स्वभाव के आधार से मेरा ज्ञान प्रति समय होता है — ऐसा स्वीकार करनेवाला ज्ञान, त्रिकाली द्रव्य के साथ अभेद होता है। ज्ञेय पदार्थों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के कारण मेरे ज्ञान की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ नहीं होती, किन्तु त्रिकाल ज्ञानस्वभाव के

आधार से ही मेरी अवस्थाएँ होती हैं; इस प्रकार पर के अवलम्बन को छोड़कर अपने स्वभाव के अवलम्बन से श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता करने से धर्म होता है और ऐसे अवलम्बन में ही सम्पूर्ण सत् की-आत्मा की स्वीकृति है।

सुख कहाँ है और कैसे होता है ?

जो आत्मा का सच्चा सुख चाहता है, उसे क्या करना चाहिए? कौन-सी क्रिया करने से सच्चा सुख होता है ? यह बात यहाँ चल रही है। सुख प्राप्त करने के जिज्ञासु जीव को पहले यह निर्णय करना चाहिए कि सुख कहाँ है ? आत्मा के अतिरिक्त किन्हीं दूसरे पदार्थों में आत्मा का सुख नहीं है। शरीरादि सब परपदार्थ इस आत्मा से शून्य है और आत्मा में उनका अभाव है; तब फिर जहाँ इस आत्मा का अस्तित्व नहीं है, वहाँ से आत्मा का सुख नहीं आता। जहाँ सुख हो, वहाँ से वह प्रगट होता है और जहाँ उसका अभाव है, वहाँ से नहीं आता। आत्मा अपने ज्ञान और सुखस्वभाव से परिपूर्ण है, पुण्य-पाप अथवा अन्य परवस्तुओं से शून्य है; इसलिए उनमें ज्ञान या सुख नहीं है।

आत्मा, पर से शून्य है — ऐसा कहने से कहीं आत्मा का सर्वथा अभाव नहीं होता, क्योंकि वह अपने स्वभाव से परिपूर्ण है। कोई वस्तु स्वयं अपने स्वभाव से शून्य नहीं होती और एक वस्तु में दूसरी का प्रवेश कभी नहीं होता। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से पूर्ण है। आत्मा स्वतः ज्ञाता-दृष्टा-श्रद्धा-चारित्र-वीर्य इत्यादि अनन्त शक्तियों से भरपूर है — ऐसे आत्मस्वभाव की श्रद्धा और स्थिरता करने से आत्मा स्वयं ही सुखरूप परिणमित होता है, आत्मा में से ही सुख प्रवाहित होता है।

आत्मा में ही परिपूर्ण सुख है; पर में कहीं भी सुख नहीं है और न परपदार्थ सुख के साधन ही हैं — ऐसा निर्णय करे तो परपदार्थों में से सुखबुद्धि दूर हो और जिसमें से सुख झरता है — ऐसे आत्मद्रव्य का लक्ष्य हो तथा उसके आश्रय से सुख का अनुभव हो।

जिसे शरीर-पैसा-स्त्री आदि पदार्थों में ही सुख का आभास होता हो, वह जीव वहाँ से हटकर आत्मस्वभावोन्मुख होने का प्रयत्न नहीं करता और न उसे सुख प्रगट होता है।

स्वभाव की एकता के आश्रय से सुख और संयोग की अनेकता के आश्रय से दुःख

आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड एक असंयोगी वस्तु है और बाह्य के संयोग तो अनेक प्रकार के हैं। उसमें स्वभाव की एकता के आश्रय से रागादि दुःख दूर होते हैं और संयोगों की अनेकता के आश्रय से रागादि दुःख होते हैं; इसलिए जिन्हें सुख की आवश्यकता हो, उन्हें अपने स्वभाव का ही आश्रय करना योग्य है। अनेक प्रकार के संयोगों का आश्रय करने से दृष्टि में विषमता होती है और उससे आकुलता ही उत्पन्न होती है। बाह्य में अनेक प्रकार के संयोग होने पर भी, उनसे भिन्न अपने एक स्वभाव का आश्रय करे तो अनन्त गुणों से भरपूर अपने स्वभाव के आश्रय से सुख होता है। आत्मद्रव्य के लक्ष्य में एकाग्रता करने से पर के साथ एकत्वबुद्धि दूर हो जाती है और अज्ञान दूर होने से सम्यग्ज्ञान होता है; वही धर्म है और वही सुख है।

शरीर-मन-वाणी, स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी या देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि संयोग अनेक प्रकार के हैं; वे सदैव एक समान नहीं रहते, इसलिए

उनका आश्रय करने से ज्ञान स्थिर नहीं होता; अत: उनके आश्रय में आत्मा को सुख नहीं होता। आत्मा का असंयोगी चैतन्यस्वभाव है, वह नित्य एकरूप रहता है। उसकी रुचि और विश्वास करके उसका आश्रय करे तो उसमें ज्ञान स्थिर होकर आनन्द प्रगट होता है।

आत्मा अनादि-अनन्त एकरूप स्थायी रहनेवाला द्रव्य है और प्रतिक्षण उसकी नवीन-नवीन अवस्थाएँ होती रहती हैं। वह वर्तमान अवस्था, यदि संयोग की रुचि करे तो अनेक प्रकार के संयोगों के आश्रय से अनेक प्रकार का विकार ही होता है और यदि वर्तमान अवस्था, त्रिकाली एकरूप द्रव्य का आश्रय करे तो द्रव्य-पर्याय की एकता होती है और शुद्धता ही प्रगट होती है।

स्वभाव एक है और परपदार्थ अनेक हैं। वर्तमान श्रद्धा में, रुचि में अनेक परपदार्थों का आश्रय करे तो एकरूप स्वभाव का अनादर होता है और विकार का आदर होता है। अनेक प्रकार के संयोगों के कारण वैसा ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञान की ही वैसी योग्यता होने से उन्हें जानता है, तथापि अज्ञानी जीव अपने एकरूप स्वभाव को न जानते होने से, अनेक ज्ञेयों के बदलने से उनके कारण मेरा ज्ञान बदला है — ऐसा मानते हैं, इसलिए वे स्व को भूलकर पर को जानने में और उसमें हर्ष-शोक मानने में ही रुक जाते हैं।

ज्ञानस्वभाव के आश्रय से एक साथ सभी पदार्थों को जानने का अपना स्वभाव है, उसकी जिन्हें खबर नहीं हैं, वे परपदार्थों से ज्ञान मानते हैं; ज्ञेयों के कारण ज्ञान मानते होने से उन्हें अनेक पर को जानने का हर्ष होता है। अनेक पदार्थों को जान लूँ तो सुख हो — ऐसा वे मानते हैं; इस कारण वे जीव, ज्ञेयों के साथ एकत्वबुद्धि करते हैं; ज्ञेयों का आश्रय छोड़कर ज्ञानस्वभाव का आश्रय वे नहीं

करते। एकरूप ज्ञानस्वभाव के आश्रय बिना कभी सच्चा सुख नहीं होता। संयोगों के आश्रय से तो मिथ्यात्व, अज्ञान और पुण्य-पापरूप विकारी क्रिया होती है; वह अधर्म है-दुःख है।

आत्मा का मूलस्वरूप क्या है ? और वह कैसे जाना जाए ?

जिस प्रकार पानी का मूलस्वभाव ठण्डा है, किन्तु अपने से विरुद्ध ऐसी अग्नि का आश्रय करे तो वह उष्णदशारूप होता है; उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव शीतल-आनन्दमय है, किन्तु यदि उस स्वभाव का आश्रय छोड़कर पर संयोग के आश्रय से परिणमन करे तो अवस्था में पुण्य-पापादि विकार होते हैं।

जिस प्रकार उष्णता पानी का यथार्थ स्वरूप नहीं है; उसी प्रकार विकारीभाव भी आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है। उष्णता के समय भी पानी का शीतल स्वभाव है; वह स्वभाव पानी में हाथ डुबोने से ज्ञात नहीं होता, आँख से दिखायी नहीं देता, कान-नाक अथवा जीभ से अनुभव में नहीं आता, परन्तु ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होता है। उसी प्रकार विकार के समय आत्मा का त्रिकाली शुद्ध स्वभाव है, वह किसी बाह्य क्रिया से या राग से ज्ञात नहीं होता, परन्तु अन्तरस्वभावोन्मुख होने से, ज्ञान से ही ज्ञात होता है। विकार के लक्ष्य से विकार दूर नहीं होता, किन्तु विकार का आश्रय छोड़कर, त्रिकाली वीतरागरूप निज-चैतन्यस्वभाव का आश्रय करने से विकार दूर हो जाता है; इसलिए ज्ञान-आनन्दस्वरूप अपने आत्मा की श्रद्धा करना ही प्रथम धर्म है।

जिस प्रकार उष्णता पानी का स्वभाव नहीं है; पानी का स्वभाव तो उष्णता को मिटाने का है। उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव विकार करना नहीं है, किन्तु उसे दूर करने का है। विकारी भावों

से होनेवाले इस संसार के भवभ्रमण का ताप दूर करने के लिए शान्त चैतन्यस्वरूप में ढलना चाहिए। मैं एक चैतन्य हूँ और यह सब संयोग मुझसे पृथक् हैं; संयोग के लक्ष्य से जो भाव होते हैं, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है; मेरा स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टा और आनन्द का अनुभव करना ही है। इस प्रकार चैतन्यस्वरूप को समझना, धर्म है।

स्वभाव को समझकर उसमें स्थिर होने से अज्ञान और विभाव दूर हो जाते हैं। त्रिकाल में धर्म की एक ही रीति है। आत्मस्वभाव के अतिरिक्त अरिहन्त या सिद्ध भगवान आदि किसी भी परवस्तु के आश्रय से धर्म समझ में नहीं आता, किन्तु विकार और दुःख ही होता है। तीनों काल में अपने एकरूप ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही धर्म समझ में आता है।

आत्मा का तैरने का स्वभाव कैसे ज्ञात होता है?

लकड़ी का स्वभाव पानी में तैरने का है; उसका वह स्वभाव किस प्रकार ज्ञात होता है? लकड़ी के टुकड़े कर डालें तो उसका तैरने का स्वभाव दिखायी नहीं देगा, क्योंकि वह आँखों से दिखायी नहीं देता; लकड़ी को मुँह में डालकर चबाए या अग्नि में जलाए तो भी उसका स्वभाव ज्ञात नहीं होगा; उसे घिसकर शरीर पर लगाए तो भी उसका स्वभाव ज्ञात नहीं होगा। इस प्रकार किसी भी इन्द्रिय द्वारा लकड़ी का स्वभाव ज्ञात नहीं होता, किन्तु अपने ज्ञान को बढ़ाने से ही लकड़ी का स्वभाव ज्ञात होता है अथवा पानी में लकड़ी पड़ी हो तो वह तैरती है — ऐसा देखकर भी उसके स्वभाव का निर्णय किया जा सकता है।

लकड़ी की भाँति, यह चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञाता-दृष्टा

स्वभाववाला है, उसका स्वभाव भी तैरने का है। उसका ज्ञानस्वभाव, विकार में नहीं डूबता, किन्तु विकार से पृथक् रहता है, अर्थात् तैरता है। चैतन्य का स्वभाव, रागादि से एकमेक हो जाने का नहीं है, किन्तु पृथक् रहने का है। वह आत्मस्वभाव किस प्रकार ज्ञात होता है? किसी पर के सन्मुख देखने से या विकार से अथवा इन्द्रियज्ञान से वह ज्ञात नहीं होता। आत्मस्वभाव को जानने का एक ही उपाय है कि त्रिकाली आत्मस्वभाव की ओर अपने ज्ञान को बढ़ाना। ज्ञान को अपने स्वभाव की ओर उन्मुख करके स्वभाव को देखे, तभी आत्मा का तैरने का स्वभाव ज्ञात होता है।

जैसे, लकड़ी का छोटा-सा टुकड़ा हो या बड़ा भारी पाँच सौ मन का लक्कड़ हो; दोनों का तैरने का स्वभाव है; उसे जानने की एक ही रीति है कि उसे पानी में डालना; और गर्म पानी का शीतल स्वभाव जानने की एक ही रीति है कि उसे ठण्डा करना, किन्तु यदि गर्म पानी में गहरे तक हाथ डालें तो कहीं उसकी शीतलता ज्ञात नहीं होगी। यह दोनों दृष्टान्त हैं। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, वह विकार में नहीं डूबता, किन्तु उससे पृथक् ऊपर ही तैरता है। उस ज्ञानस्वभाव को जानने के लिए वर्तमान पर्याय के सामने देखता रहे तो वह ज्ञात नहीं होगा। जो आत्मस्वभाव है, उसमें अपने ज्ञान को ढालने से ही वह ज्ञात होता है। बाह्य के अनेक संयोग और पर्याय के क्षणिक विकार को न देखकर, अपना असंगस्वभाव चैतन्य से परिपूर्ण है, उस स्वभाव का विश्वास करके ज्ञान को स्वभाव में युक्त करे, तभी स्वभाव ज्ञात होता है और सम्यग्ज्ञान होता है। एक प्रकार के स्वभाव के आश्रय से पर्यायें भी एक प्रकार की, अर्थात् शुद्धरूप होती हैं, वही धर्म है।

यहाँ आचार्यदेव, ज्ञानस्वभाव का पर से भिन्नत्व समझाते हैं। पर से ज्ञान पृथक् है, इसलिए पर के आश्रय से आत्मा का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान तो आत्मस्वभाव के ही आश्रय से होता है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वत: पूर्ण है, उसी के आश्रय से सम्यग्ज्ञान होता है।

इस प्रकार आत्मा के ज्ञानस्वभाव को 'रूप' से स्पष्टतया भिन्न बतलाया। ●●

उसका जीवन भी प्रशंसनीय है

संसार में परिभ्रमण करते हुए अनन्त बार मनुष्य देह पाकर भी आत्मा के भान बिना मरण किया परन्तु आत्मा क्या है ? – उसकी बात का परिज्ञान नहीं किया; इसलिए यहाँ उसकी महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि बाहर की चिन्ता मिटाकर जो आत्मस्वरूप में स्थिर हैं, उन्होंने तो करने योग्य कार्य कर लिया है, उनकी तो क्या बात! परन्तु जिन्हें जगत् की चिन्ता छोड़कर, आत्मा की चिन्ता की पकड़ भी हुई है कि अहो! मैंने अपने आत्मा को अनन्त काल से पहचाना नहीं, अनन्त काल में कभी आत्मा का ध्यान नहीं किया; आत्मा को भूलकर बाह्य पदार्थों की चिन्ता में ही परिभ्रमण किया है; अब, सत्समागम से आत्मा को जानकर उसी का ध्यान करनेयोग्य है – ऐसी आत्मा की चिन्ता का परिग्रह करे, पकड़ करे, उसका जीवन भी प्रशंसनीय है। *– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

वर्ण से ज्ञान का भिन्नत्व

वर्ण, ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण (पुद्गलद्रव्य का गुण है), अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और वर्ण के व्यतिरेक है (अर्थात् ज्ञान अन्य है, वर्ण अन्य है)।

रूप और वर्ण — दोनों चक्षु इन्द्रिय के विषय हैं, परन्तु उनमें अन्तर मात्र इतना है कि रूप कहने से वस्तु के आकार की मुख्यता है और वर्ण कहने से उसके रंग की मुख्यता है।

परवस्तु की रुचि ही अधर्म

वर्ण, अर्थात् रंग; लाल, पीला, नीला, काला और सफेद — ऐसे पाँच प्रकार के रंग हैं, वे अचेतन पुद्गल के रंगगुण की पर्यायें है। सिर में काले बाल होते हैं, वहाँ यदि ऐसा माने कि इन बालों को देखने से मुझे उनका ज्ञान हुआ, तो वह जीव अपने ज्ञानस्वभाव की रुचि छोड़कर बालों की रुचि करता है, इससे उसे अधर्म होता है और यदि ऐसा समझे कि काले बालों आदि के अवलम्बन से मैं नहीं जानता हूँ, तो उस जीव को त्रिकाली ज्ञानस्वभाव की रुचि से, उसके आश्रय से सम्यग्ज्ञान होता है और बाल आदि परवस्तुओं की रुचि दूर होती है, वह धर्म है।

शरीर के रूप में सुख नहीं; आत्मा में सुख

शरीर का गोरा रंग हो या काला, वह जड़ है; ज्ञान उससे भिन्न

है। शरीर रूपवान हो, उसमें आत्मा का सुख नहीं है; शरीर का रंग तो अचेतन है, उसमें सुख या ज्ञान मानना मिथ्यात्व और अधर्म है। जिसने रूप-रंग में सुख माना है, वह अपने ज्ञान को रंग में युक्त करता है परन्तु आत्मा में युक्त नहीं करता, उसे धर्म नहीं होता। रंग इत्यादि अचेतन हैं और मेरा आत्मा चेतन है। अपने चेतनस्वभाव के आश्रय से ही मेरा ज्ञान और सुख है; इस प्रकार अपनी अवस्था को त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में ढालने से ही अवस्था में सम्यग्ज्ञान और सुख प्रगट होता है। जैसे, पानी से रहित घड़ा हो तो उसमें से पानी नहीं टपकता, परन्तु जो घड़ा पानी से भरा हो, उसमें से पानी टपकता है; उसी प्रकार सुन्दर शरीरादि परवस्तुएँ तो ज्ञान और सुख से रहित हैं-अचेतन हैं; आत्मा से भिन्न हैं, उनमें से ज्ञान या सुख नहीं टपकता, परिणमित नहीं होता। अपना आत्मा त्रिकाली ज्ञान और सुखस्वभाव से परिपूर्ण है; उसकी रुचि करके उसके अवलम्बन से परिणमन करने से अवस्था में ज्ञान और सुख टपकता है - द्रवित होता है। अपने स्वभाव में ज्ञान और सुख भरे हुए हैं, उन्हें न देखकर बाह्य में देखता रहे तो कभी सुख या ज्ञान नहीं होगा।

आत्मा का आश्रय धर्म, पर का आश्रय अधर्म

आत्मा की जो अवस्था, वर्णादि पर का आश्रय करती है, उसमें रागादि के साथ एकता होती है, वह अधर्म है और यदि एकरूप द्रव्यस्वभाव का आश्रय करे तो रागादि के साथ एकता टूटकर स्वभाव में अभेदता होती है, धर्म होता है और अधर्म दूर होता है।

जैसे, बाजार में किसी दुकान पर बड़ा दर्पण लगा हो और मार्ग से आने-जानेवाली सवारी गाड़ियाँ, मनुष्य, कपड़े उसमें दिखायी

देते हैं, प्रतिबिम्ब दिखायी देते हैं; तो वहाँ कहीं वह दर्पण पदार्थों की ओर नहीं जाता और न पदार्थ उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार ज्ञान सामर्थ्य ऐसा है कि उसमें परवस्तुएँ ज्ञात होती हैं, परन्तु वास्तव में तो वैसी ज्ञान की ही योग्यता है; पदार्थ के कारण ज्ञान नहीं है और पदार्थ ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हो जाते — ऐसा होने पर भी, जो ज्ञान अपने स्वभाव का आश्रय न करके वर्णादि का आश्रय करता है, वह मिथ्या है, अचेतन है।

पर से भिन्न ज्ञानस्वभाव के अनुभव का उपाय

वर्ण और ज्ञान का भिन्नत्व है — ऐसा कहते ही वर्ण, वर्णरूप है — ऐसा सिद्ध होता है। इस जगत में सब ब्रह्मस्वरूप है — ऐसा नहीं है; और जो भाँति-भाँति के रंग आदि दिखायी देते हैं, वे भ्रमरूप नहीं परन्तु सत् हैं, जगत् के पदार्थ हैं और ज्ञानस्वभावी आत्मा भी स्वतन्त्र पदार्थ है। रंग है, इसलिए ज्ञान है — ऐसा नहीं है। ज्ञान, आत्माश्रित है और वर्ण, पुद्गलाश्रित है; इस प्रकार ज्ञान की और वर्ण की स्पष्टरूप से भिन्नता है।

वर्ण से भिन्न ज्ञानस्वभाव के अनुभवन का उपाय यह है कि ज्ञान का लक्ष्य वर्ण की ओर से छोड़कर, त्रिकालीस्वभाव की रुचि करके, उस स्वभाव की ओर उन्मुख करना चाहिए। जो ज्ञान, संयोगों की ओर ही देखता है, वह ज्ञान, आत्मस्वभाव को नहीं जान सकता परन्तु सर्व संयोगों की ओर से लक्ष्य उठाकर एक स्वभाव की ओर ही एकाग्र होने से सम्यग्ज्ञान होता है। वास्तव में तो अपने परिपूर्ण स्वभाव को लक्ष्य में लेकर ज्ञान उसमें स्थिर हो, वहाँ बाह्य संयोगों का लक्ष्य नहीं छोड़ना पड़ता, किन्तु वह स्वयमेव छूट जाता है।

कौन-सा ज्ञान आत्मा को जानता है ?

अस्ति स्वभाव से आत्मा ज्ञान से परिपूर्ण है और नास्ति से शास्त्र के अक्षर, रूप, रंग आदि से आत्मा पृथक् है। वर्णादि में आत्मा की नास्ति है, इसलिए उन वर्णादि के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान भी वास्तव में आत्मा का स्वरूप नहीं है। जो ज्ञान, आत्मा के लक्ष्य से कार्य करता है, उसे आत्मा का स्वरूप कहा जाता है। आत्मा का स्वभाव, आत्मा की रीति से-आत्मा के लक्ष्य से समझना चाहे तो समझमें आता है। आत्मा होकर आत्मा को समझना चाहे तो समझ में आता है, किन्तु अपने को निर्बल, जड़ के आश्रित माने तो आत्मा समझ में नहीं आता। आत्मा का जो ज्ञान परलक्ष्य से कार्य करता है, वह ज्ञान, आत्मस्वभाव के साथ एकता नहीं करता; इसलिए वह ज्ञान, आत्मा को नहीं जानता। ज्ञान की वर्तमान पर्याय अनेक प्रकार के पर का आश्रय-लक्ष्य छोड़कर एकरूप परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप का आश्रय करे तो आत्मस्वभाव के साथ उसकी एकता होती है और वह ज्ञान, आत्मा को यथार्थ जानता है। पश्चात् वह ज्ञान, स्वभाव के साथ एकता रखकर पर को भी यथार्थ जानता है, यही धर्म की रीति है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से धर्म नहीं होता।

रुचि करे तो स्वभाव को समझ लेना सरल

कोई लोग कहते हैं कि - इसमें तो हमें कुछ भी पता नहीं पड़ता; कोई बाहर की बात करो तो पता पड़े!

उसका उत्तर : बाह्य पदार्थों में तो आत्मा है ही नहीं। बाह्य पदार्थों से तो आत्मा पृथक् है, इसलिए आत्मा के धर्म में बाह्य बात कैसे आयेगी ? आत्मा बाहर का कुछ भी कर ही नहीं सकता और

बाह्यरुचि होने से बाहर का ही दिखायी देता है; उसी प्रकार यदि अन्तर स्वभाव की रुचि करे तो यह भी बराबर समझ में आ सकता है। परवस्तुएँ — शरीर की क्रियादि दिखायी देती हैं, उन्हें कौन जानता है? शरीर, वाणी इत्यादि जो अजीव पदार्थ हैं, उन्हें कुछ भी खबर नहीं पड़ती, स्वयं ही उसका ज्ञाता है। 'मुझे इसमें कुछ खबर नहीं पड़ती' — ऐसा निर्णय कहाँ से किया? स्वयं अपने ज्ञान को जाने बिना वह निर्णय नहीं होता। स्वयं अपने को जानता है, तथापि विश्वास नहीं करता। अपने ज्ञान का और पर का निर्णय करनेवाला अपना ज्ञानसामर्थ्य है। अपने ज्ञानसामर्थ्य का अविश्वास ही अधर्म है। पर की खबर भी आत्मा को ही पड़ती है और अपनी खबर भी उसी को होती है।

अज्ञानी-मूढ़ जीवों को आत्मा की रुचि नहीं है और विषयों की रुचि है; इस कारण उन्हें आत्मा को समझना महँगा/दुःखदायक लगता है और विकार तथा पर का करने की बात सरल मालूम होती है तथा उसमें सुख भासित होता है। पुण्य करना और उसके फल भोगना, विषय-सेवन करना, पर का अहंकार करना — यह सब अज्ञानियों को सरल लगता है और रुचिकर प्रतीत होता है, इसलिए वैसी बात उनकी समझ में झट आ जाती है, क्योंकि वह तो अनादि संसार से कर रहे हैं! परन्तु इन सबसे भिन्न यह आत्मस्वभाव की अपूर्व समझ है, यह अपने स्वभाव की बात उन्हें नहीं रुचती। स्वभाव को समझना ही वास्तव में सरल और सुखदायक है।

अपूर्व शान्ति कैसे हो?

यह आत्मा अनादि काल से वह का वही है, परन्तु अनादि

काल में कभी भी इसने अपने स्वाधीन स्वभाव की पहचान करके उसका आश्रय नहीं किया है और पर का ही आश्रय किया है, इस पराश्रय से कभी उसे शान्ति नहीं मिली। आत्मा का सुख पर में नहीं है, तो फिर पराश्रय से आत्मा को कैसे सुख होगा ? जीव का अपना स्वभाव ज्ञान-आनन्द से परिपूर्ण है, उसका विश्वास करके उसका आश्रय करे तो अपूर्व शान्ति-सुख हो। जिस प्रकार लकड़ी, समुद्र के जल में तैरती है; उसी प्रकार आत्मा की वर्तमान अवस्था, त्रिकाली चैतन्यसागर में गिरने से, अर्थात् त्रिकाली चैतन्य का आश्रय करने से तैरती है, अर्थात् मुक्ति प्राप्त करती है।

ज्ञान को पर से भिन्न जाने तो संसार परिभ्रमण दूर

अनेक प्रकार के परपदार्थों को जानने पर भी, वर्तमान रुचि में स्वभाव का आश्रय रहना धर्म है। अनेक को जाननेवाला स्वयं अनेकरूप होकर नहीं जानता, परन्तु एकरूप स्वभाव का आश्रय रखकर सब को जानता है। ऐसे एकरूप ज्ञानस्वभाव का आश्रय ही धर्म है। आत्मा, परवस्तु का कुछ नहीं कर सकता। पर का ग्रहण-त्याग या अच्छा-बुरा आत्मा नहीं कर सकता, तथापि अज्ञानी जीव, पर के कर्तृत्व का अभिमान करता है; इससे उसका ज्ञान अनेक प्रकार के पर के आश्रय में ही रुक जाता है और उसे पर के साथ एकत्वबुद्धिपूर्वक राग-द्वेष होते हैं, वह अधर्म है। पर की कर्तृत्वबुद्धि होने से, पर का आश्रय छोड़कर स्वभाव का आश्रय नहीं करता। स्वभाव के आश्रय बिना दया-दान-भक्ति आदि पुण्यभाव करे तो भी संसार-परिभ्रमण ही होता है, किन्तु मैं पर का कुछ भी करनेवाला नहीं हूँ और पर के कारण मेरा ज्ञान नहीं है; इस प्रकार अपने ज्ञान को पर से बिल्कुल भिन्न समझे तो पर का

अहंकार छोड़कर ज्ञानस्वभाव की रुचि करे; उससे ज्ञान-सुखरूपी धर्म होता है और संसार परिभ्रमण दूर होता है।

सम्यग्ज्ञान का पुरुषार्थ

वर्तमान ज्ञान को चैतन्यतत्त्व की ओर उन्मुख करके स्वभाव को समझना ही सम्यग्ज्ञान का पुरुषार्थ है। बाह्य में पर को जानने का ज्ञान का विकास, वह वास्तव में पुरुषार्थ नहीं है। व्यापार, डॉक्टरी, वकालात आदि कलाओं में ज्ञान का जो विकास दिखायी देता है, उसमें वास्तव में वर्तमान पुरुषार्थ का कार्य नहीं है, परन्तु पूर्व का विकास वर्तमान में दिखायी देता है। वहाँ बाह्य पदार्थों के कारण भी ज्ञान का विकास नहीं है। वर्तमान में पढ़कर फिर पैसा कमाने का भाव, पाप है; उस पापभाव के कारण ज्ञान का विकास कैसे होगा? यदि पाप से ज्ञान विकसित होता हो, तब तो बहुत पाप करने से ज्ञान अधिक विकसित होकर केवलज्ञान हो जाये, परन्तु ऐसा नहीं है। वर्तमान में मेंढ़क आदि चीरने के पापपरिणाम हैं, उनके कारण कहीं डॉक्टरी का ज्ञान विकसित नहीं होता; वह तो पूर्व का विकास दिखायी देता है और वर्तमान में जो पापपरिणाम है, उनके कारण ज्ञान का ह्रास होता जाता है। यहाँ पापपरिणामों की बात तो नहीं है, परन्तु शुभपरिणाम करके शास्त्रादि पढ़े और ज्ञान का विकास दिखायी दे, वह भी वास्तव में आत्मकल्याण कारण नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान भी राग के आश्रय से हुआ है। रागादि के लक्ष्य से रहित, अपने ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य से जो ज्ञान विकसित होता है, वही सम्यग्ज्ञान है तथा वही आत्मा की मुक्ति का कारण है।

जीव की वर्तमान बुद्धिमानी से पैसा नहीं मिलता

अपनी वर्तमान चतुराई के कारण मैं पैसा इत्यादि प्राप्त कर

सकता हूँ — ऐसा अज्ञानी मानता है, परन्तु धन-प्राप्ति का भाव पाप है, उसके कारण धन नहीं आता; धन तो पूर्व के पुण्य के कारण आता है। गायों को काटनेवाले महापापी, कसाई आदि प्रतिदिन हजारों रुपये कमाते हैं, तो क्या वह गायें काटने की पापबुद्धि का फल है ? वर्तमान पाप के फल में तो भविष्य में नरक के दु:खों का संयोग होगा। वर्तमान में जो रुपया मिल रहा है, वह पूर्व के पापानुबन्धी पुण्य का फल है। हिंसा-झूठ-चोरी आदि के कारण पैसे की प्राप्ति नहीं होती और सत्यादि शुभपरिणाम करने के कारण भी वर्तमान में पैसा नहीं मिलता। किसी जीव को वर्तमान में पुण्यपरिणाम होते हैं, लेकिन पूर्व पाप के उदय के कारण वर्तमान में लक्ष्मी आदि संयोग नहीं होते। बाह्य का कोई भी संयोग-वियोग हो, उसका कर्त्ता आत्मा नहीं है और न उन संयोगों के कारण ज्ञान होता है। इसलिए जिसे आत्महित करना हो, उसे पैसा आदि परसंयोगों की और बाह्यज्ञान की रुचि छोड़कर, असंयोगी आत्मस्वभाव की ही रुचि करके, उसकी पहिचान करना चाहिए। यही आत्महित का उपाय है।

धर्म करने के लिए किसके सन्मुख देखना ?

इस जगत में अपना ज्ञानस्वभाव है और जगत् के अन्य पदार्थ भी हैं। जिसे ज्ञान और आनन्द प्रगट करना हो, उसे कहाँ देखना ? अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर यदि पर के सन्मुख देखे तो दु:ख और अज्ञान ही होते हैं और अपने ज्ञानस्वभाव का ही आश्रय करके परवस्तुओं का लक्ष्य छोड़ दे तो स्वाभाविक सुख का अनुभव प्रगट होता है। अपने आत्मस्वभाव को ही स्वीकार न करे तो फिर धर्म कहाँ करेगा ?

इस जगत् में अकेला आत्मा ही हो और दूसरे पदार्थ न हों तो अकेले आत्मा में भूल नहीं होगी। अकेला आत्मा किसके लक्ष्य से भूल करेगा ? और यदि अकेले आत्मा के लक्ष्य से भूल होती हो तो वह कभी दूर नहीं हो सकती। आत्मा के अतिरिक्त परपदार्थ है, उनका आश्रय करने से जीव अपने स्वरूप को भूलता है, इससे दु:ख है। आत्मा अपने ज्ञाता-दृष्टास्वरूप को देखे तो उसमें से सुख प्रगट होता है। पहले अपने सुखस्वभाव को भूलकर राग-पुण्य-पापादि का आश्रय करने से सुख-शान्ति का वेदन नहीं होता था; और अब यथार्थ समझपूर्वक अन्तरंग स्वभाव का आश्रय लेने से स्वभाव-सुख का वेदन होता है — यही सुख का सच्चा उपाय है। ज्ञानस्वभाव का आश्रय करने के लिए ही यहाँ आचार्यदेव ने सर्व परद्रव्यों से ज्ञान के स्पष्ट भिन्नत्व का वर्णन किया है। इस प्रकार वर्ण से भिन्नत्व का वर्णन पूर्ण हुआ। अब, गन्ध से ज्ञान के बिल्कुल भिन्नत्व का वर्णन करते हैं। ●●

भय बिना प्रीति नहीं

अरे रे! मुझे कहाँ तक यह जन्म-मरण करने हैं। इस भव-भ्रमण का कहीं अन्त है या नहीं ? इस प्रकार जब तक चौरासी के अवतार का भय नहीं होता, तब तक आत्मा की प्रीति नहीं होती। 'भय बिना प्रीति नहीं' अर्थात् भव-भ्रमण का भय हुए बिना, आत्मा की प्रीति नहीं होती। सच्ची समझ ही विश्राम है। अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए कहीं विश्राम प्राप्त नहीं हुआ है। अब सच्ची समझ करना ही आत्मा का विश्राम है।

-पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गन्ध से ज्ञान का भिन्नत्व

गन्ध, ज्ञान नहीं है क्योंकि गन्ध (पुद्गलद्रव्य का गुण है,) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और गन्ध के व्यतिरेक (भेद, भिन्नता) है।

गन्ध, ज्ञान नहीं है क्योंकि गन्ध पुद्गल का गुण है, अचेतन है; इसलिए ज्ञान और गन्ध का भिन्नत्व है। जो ज्ञान, पर के आश्रय से जानता है, वह अचेतन है और जो स्वभाव की एकतापूर्वक जानता है, वह मोक्ष का कारण है।

गन्ध, अचेतन है; वह कुछ नहीं जानती, उसे अपनी खबर नहीं है। ज्ञान, चेतन है, वह परिपूर्ण जानता है; स्व-पर को जानता है। भिन्न-भिन्न प्रकार की गन्ध हो, वहाँ ज्ञान अनेकता के आश्रय से नहीं जानता, किन्तु स्वभाव की एकता रखकर जानता है; इसलिए गन्ध से ज्ञान नहीं है। जो ज्ञान, गन्ध को जानने में स्वभाव की एकता छोड़कर, गन्ध के आश्रय से जानता है, उस ज्ञान को आचार्यदेव अचेतन कहते हैं। ज्ञान अपने ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही प्रगट होता है, स्थायी रहता है और बढ़ता है। गन्ध के आश्रय से ज्ञान प्रगट नहीं होता, स्थायी नहीं रहता और बढ़ता नहीं है; इसलिए तू पर की रुचि छोड़कर, स्वसन्मुख होकर ज्ञानस्वभाव की रुचि कर। ज्ञान, ज्ञानस्वरूप रहकर पर का आश्रय किये बिना स्व-पर को जानता है।

पहले ज्ञान की अल्पदशा होती है और फिर वह बढ़ती है — तो वह अधिक ज्ञान कहाँ से आया ? परद्रव्य तो अचेतन है, उनके अवलम्बन से ज्ञान प्रगट नहीं होता; अल्पदशा में से अधिक ज्ञान की दशा नहीं आयी है। अन्तर में द्रव्यस्वभाव ज्ञान से पूर्ण भरा हुआ है, उसी के आधार से ज्ञान प्रगट होता है। जिस प्रकार पानी से भरे हुए घड़े में से पानी झरता-टपकता है; उसी प्रकार ज्ञान से भरे हुए आत्मस्वभाव में से ही ज्ञानपर्याय प्रगट होती है। चेतनस्वभाव का आश्रय छोड़कर, यदि पर के आश्रय से ज्ञान हो तो वह चेतनस्वरूप नहीं है। अपने त्रिकाली चेतनस्वभाव में वर्तमान ज्ञानपर्याय की एकता करने से जो ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान है और वह मोक्ष का कारण है।

ज्ञेयों को यथावत् जानने पर भी उनका आश्रय नहीं है, किन्तु स्वभाव का ही आश्रय है

अखण्ड चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा रखकर ज्ञान में अनेक प्रकार के पदार्थ और विकारभाव भले ही ज्ञात हों, वहाँ पर को जानने से ज्ञान खण्डित नहीं होता क्योंकि वह अनेक प्रकारों का आश्रय नहीं करता; ज्ञान में एक स्वभाव का ही आश्रय होने से स्वभाव के साथ ज्ञान की एकता बढ़ती जाती है।

प्रश्न : समयसार के समय समयसार का और प्रवचनसार के समय प्रवचनसार का ज्ञान होता है तो इस प्रकार ज्ञान, पर का आश्रय करके जानता है न ?

उत्तर : नहीं; ज्ञान, पर के आश्रय से नहीं जानता। सामने जैसा ज्ञेय हो, वैसा जानता है, परन्तु विपरीत नहीं जानता। समयसार को समयसार के रूप में जानता है और प्रवचनसार को प्रवचनसार के

रूप में जानता है; वहाँ ज्ञेय के आश्रय से ज्ञान नहीं है परन्तु ज्ञान की वैसी ही योग्यता है। ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि ज्ञेयों को यथावत् जानता है। समयसार हो, उसे समयसार के ही रूप में जानता है, किन्तु प्रवचनसार के रूप में नहीं जानता, तथापि समयसार के कारण समयसार का ज्ञान नहीं हुआ है; ज्ञान तो अपने स्वभाव से है। सामने प्रवचनसार रखा है, तथापि उस समय अन्तर में समयसार का विचार करके ज्ञान उसे जानता है; इसलिए ज्ञान स्वतन्त्र है। इस प्रकार ज्ञान की स्वतन्त्रता समझने से ज्ञेय का आश्रय छोड़कर, जीव अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय करता है, वह सम्यग्ज्ञान है। चाहे जिस ज्ञेय को जानते हुए भी प्रति समय सम्यग्ज्ञान को तो एक त्रिकाली ज्ञानस्वभाव का ही आश्रय है। ज्ञान को श्रुतज्ञान का, शब्द का, रूपादि का आश्रय नहीं है; इसलिए भिन्न-भिन्न ज्ञेयों को जानने पर भी, ज्ञान तो स्वभाव के आश्रय से एक ही रूप है। इसलिए ज्ञान को ज्ञान का ही अर्थात् आत्मा का ही आश्रय है; श्रुत या वाणी का आश्रय ज्ञान को नहीं है।

भेदज्ञान करने में क्रम नहीं होता

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि पहले श्रुत से ज्ञान का भिन्नत्व बताया, फिर शब्द से, फिर रूप से — इस प्रकार क्रमशः वर्णन किया जाता है परन्तु उनका आश्रय छोड़ने में कहीं क्रम नहीं पड़ता। पहले श्रुत का आश्रय छूटे, फिर शब्द का और फिर रूप का; इस प्रकार क्रम नहीं पड़ता परन्तु अपने परिपूर्ण आत्मस्वभाव का आश्रय करते ही ज्ञान में से सर्व ज्ञेयों का आश्रय एक साथ ही छूट जाता है। एक-एक ज्ञेय के लक्ष्य से ज्ञेयों का आश्रय छोड़ना चाहे तो नहीं छूट सकता परन्तु एक अखण्ड स्वभाव

का आश्रय करने से समस्त ज्ञेयों का आश्रय छूट जाता है। इस प्रकार सर्व ज्ञेयों से ज्ञान का भेदज्ञान एक ही साथ होता है, भेदज्ञान में क्रम नहीं पड़ता।

एक स्वभाव का आश्रय करने से अपूर्व भेदज्ञान

आत्मा स्व-पर का ज्ञाता-दृष्टा है। अज्ञानभाव से वह प्रत्येक परपदार्थ के प्रति लक्ष्य करके रुकता है और उतना ही अपना स्वरूप मानता है। यदि अनन्त सामर्थ्य से भरपूर अपने एक स्वभाव का आश्रय करे तो पर में एक-एक का आश्रय छूट जाए और स्वभाव के आश्रय से ज्ञान का विकास होते-होते एक ही साथ सबकुछ जाने — ऐसा ज्ञान प्रगट हो। आत्मवस्तु और ज्ञानादि गुण त्रिकाल हैं और पर्याय उसका अंश है। त्रिकाली द्रव्य का अंश है, वह यदि त्रिकाली का आश्रय करे तो अंशी के साथ अंश अभेद होता है और पर के साथ एकता की मान्यता छूट जाती है, इससे स्व-पर का अपूर्व भेदज्ञान होता है। उस भेदविज्ञान में पर से भिन्नत्व का ज्ञान है और अपने स्वभाव के साथ एकता का ज्ञान है। स्वभाव के साथ एकता, वह अस्ति है और पर से भिन्नता, वह नास्ति है; इस प्रकार भेदज्ञान में अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त आ जाता है।

धर्म में किसका ग्रहण और किसका त्याग ?

प्रश्न : इसमें कुछ छोड़ने की बात तो नहीं आयी ?

उत्तर : आत्मा ने पर को अपना माननेरूप जो विपरीत मान्यता पकड़ी है, उसे छुड़ाने की इसमें बात है। किसी परवस्तु को तो आत्मा ने पकड़ा नहीं है कि उसे छोड़े! आत्मा में हाथ-पैर या दाँत नहीं है कि जिनसे वह परवस्तु को पकड़े या छोड़े। आत्मा ने अपने

स्वभाव को भूलकर 'विकार है, वह मैं हूँ' — इस प्रकार अपनी अवस्था में विकार की पकड़ कर रखी है। जिसने अपने परिपूर्ण ज्ञानानन्दस्वभाव की पकड़/श्रद्धा करके उस विकार की पकड़ छोड़ी है, उसने छोड़ने योग्य सबकुछ छोड़ दिया है। 'स्वभाव का ग्रहण और विकार का त्याग' — ऐसा ग्रहण-त्याग ही धर्म है। इसके अतिरिक्त परवस्तु को आत्मा ने पकड़ा नहीं है, वह आत्मा में कभी प्रविष्ट नहीं होती, तब फिर आत्मा उसे छोड़ेगा कहाँ से ? मैं पर को छोड़ दूँ — ऐसा जो मानता है, वह जीव, पर का अहंकार करनेवाला अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

साधक को निर्मलपर्याय की अनेकता में भी आश्रय तो स्वभाव की एकता का ही

स्वभाव की रुचि करने से अनेक परपदार्थों का आश्रय एक ही साथ छूट जाता है और पर्याय में प्रति समय स्वभाव के साथ एकता बढ़ती जाती है — पर्याय की शुद्धता बढ़ती जाती है। यद्यपि उस शुद्धता की तारतम्यता अनेक प्रकार की है परन्तु उस प्रत्येक पर्याय में एक स्वभाव का ही आश्रय बढ़ता जाता है। इस अपेक्षा से उसमें एक ही प्रकार है। शरीर, मन, वाणी, शास्त्रादि अनेक पदार्थों के आश्रय से ज्ञान मानना, वह धर्म नहीं है, परन्तु उन शरीरादि राग-द्वेषादि से भिन्न एक ज्ञानानन्दस्वभाव के आश्रय से ही शुद्धता होती है, वही धर्म है।

आत्मा के आश्रय से समस्त पराश्रय का एक ही साथ अभाव

यहाँ आचार्यदेव, परवस्तुओं के द्रव्य-गुण-पर्याय से ज्ञान को भिन्न बताते हैं और आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद बताते हैं। श्रुत, शब्द, रूप, वर्ण हैं, वे ज्ञान नहीं हैं — इस प्रकार

अनेक से भिन्नत्व बतलाने में कथन में क्रम पड़ता है परन्तु उन सबसे पृथक् ज्ञानस्वभाव का आश्रय करने में क्रम नहीं होता। ज्ञान अपने स्वभाव की ओर ढला कि वहाँ समस्त पर का आश्रय छूट गया। पहले श्रुत से पृथक् करके स्वभाव का आश्रय करे और फिर शब्द से, वर्ण से पृथक् करके स्वभाव का आश्रय करे — ऐसा क्रम नहीं होता। परवस्तु के आश्रय में अनेक प्रकार होते थे, इसलिए वर्ण से भिन्न, शब्द से भिन्न; इस प्रकार अनेक प्रकार से कहा है, उन सबमें स्वभाव का आश्रय तो लगातार एक ही प्रकार का है। आत्मा के ज्ञान को पर का आश्रय नहीं है, और स्वभाव का आश्रय करने में क्रम नहीं है, अर्थात् पहले अमुक पदार्थ का आश्रय छूटे — इस प्रकार आश्रय छोड़ने में क्रम नहीं है; जितना स्वभाव का आश्रय करे, उतना समस्त पर का आश्रय छूट जाता है।

पर को जानते समय भी स्वाश्रय के बल से साधकत्व स्थायी

पर से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान होने के पश्चात् अनेक प्रकार के परज्ञेयों को ज्ञान जानता है, तथापि उस समय स्वभाव की रुचि छोड़कर पर को नहीं जानता; पर को जानने से मेरा स्वाश्रय छूट जाता है — ऐसी शंका ज्ञान में नहीं पड़ती। चाहे जिस पर को और रागादि को जानने पर भी, श्रद्धा-ज्ञान में तो एक स्वाश्रय का ही आदर रहता है; इससे उस समय स्वाश्रय के बल से ही साधकत्व बना हुआ है और स्वाश्रय के ही बल से उसमें वृद्धि होती रहती है। इससे साधक को पर को जानते समय भी वास्तव में तो ज्ञान की स्वाश्रयोन्मुखता ही बढ़ती है और पराश्रयोन्मुखता दूर होती जाती है। इस प्रकार स्वाश्रय ही धर्म है।

धर्म का क्रम

इस प्रकार स्वाश्रय स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान करना, वह धर्म की प्रथम भूमिका है। पश्चात् स्वभाव में विशेष ढलने से रागादि दूर होते जाते हैं, पराश्रयभाव छूटता जाता है और अन्त में वीतरागता होकर पूर्ण स्वभाव प्रगट हो जाता है, केवलज्ञान होता है — जीवनमुक्तदशा होती है। उसके पश्चात् देहरहित होकर सर्वथा मुक्त सिद्धभगवान हो जाता है। ऐसा धर्म के प्रारम्भ का, मध्य का और पूर्णता का क्रम है।

ज्ञानी और अज्ञानी की करुणा में महान अन्तर : ज्ञानी को करुणा के समय भी धर्म और अज्ञानी को अधर्म

जिसने अपने त्रिकालीस्वभाव का आश्रय किया है, उसे अस्थिरता के कारण राग हो, तो वह पर के कारण नहीं मानता। परजीव को दु:खी देखने के कारण राग नहीं मानता परन्तु अपनी अस्थिरता के कारण करुणाभाव हो जाता है और उस समय भी अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय छोड़े बिना उसे जानता है; इससे उस समय भी सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानरूपी धर्म है तथा जो परजीव दु:खी हो रहा है, उसे रोटी नहीं मिलती — उस कारण से या किसी भी संयोग के कारण दु:ख नहीं है, परन्तु अज्ञानभाव से और मोह से दु:ख है। यह शरीर मेरा है, और आहारादि के बिना मेरा नहीं चल सकता — ऐसी देहदृष्टि से ही उसे दु:ख है। उसका वह दु:ख बाह्य संयोग से-रोटी मिलने से दूर नहीं होता, परन्तु वह जीव स्वयं देहदृष्टि छोड़कर स्वभावदृष्टि करे, तभी उसका दु:ख दूर होता है। दूसरा कोई उसका दु:ख दूर करने में समर्थ नहीं है — ऐसा भान ज्ञानी को होने से उन्हें पर के प्रति एकत्वबुद्धि से करुणाभाव

नहीं होता और मैं पर को सुखी-दु:खी कर सकता हूँ — ऐसा वे नहीं मानते; इसलिए जब करुणा का रागभाव हुआ, उस समय भी स्वभाव के आश्रय से उनके धर्म बना हुआ है। वास्तव में स्वभाव के आश्रय से वे राग के भी ज्ञाता ही हैं।

रोटी आदि का क्षेत्रान्तर होना तो जड़ की क्रिया है, और आत्मा के भावों का बदलना, वह आत्मा की क्रिया है। प्रत्येक वस्तु का क्षेत्रान्तर या भावान्तर (भिन्न-भिन्न प्रकार की अवस्था) वस्तु के अपने स्वभाव से ही होते हैं। दूसरा कोई कहे कि मैं रोटी आदि का क्षेत्रान्तर कर दूँ या दूसरे को मैं सुखी कर दूँ (भावान्तर कर दूँ) तो वह जीव, सत्यस्वरूप को नहीं समझा है। आहार-पानी को लेने-देने की क्रिया आत्मा नहीं करता। उनकी क्षेत्रान्तर आदि क्रिया अपने आप जैसी होना हो, वैसी होती है।

परजीव की करुणा आने से ऐसा माने कि इसके दु:ख के कारण मुझे करुणा उत्पन्न हुई ओर मैं इसका दु:ख मिटा दूँ, अथवा आहारादि देने की क्रिया मैं करूँ, तो वह जीव करुणाभाव के पुण्य के साथ ही मिथ्यात्व का महान पाप बाँधता है; इससे करुणाभाव के समय भी विपरीतमान्यता के कारण उसे अधर्म ही होता है।

सबसे महान जीवहिंसा और सच्ची दया

प्रश्न : यदि लोग ऐसा समझेंगे कि आत्मा, परजीव को बचा या मार ही नहीं सकता, तो दया कम हो जाएगी न?

उत्तर : ऐसी सच्ची समझ में ही सच्ची दया आती है। अनादि से विकार का और पर का कर्ता अपने को मानकर, अपने ज्ञानस्वभाव की हिंसा कर रहा है, यदि यह सत्य समझ ले तो वह हिंसा रुक

जाये और अपनी सच्चा दया प्रगट हो; और जिसे ऐसी स्वदया प्रगट हो, उस जीव को, दूसरे जीव को मारने का तीव्र कषायभाव होगा ही नहीं, इससे स्व-दया में पर-दया सहज ही आ गयी। परजीवों को तो कोई मार या बचा नहीं सकता। रागी जीव को अपने कारण अनुकम्पाभाव होता है परन्तु वह पर को बचाने में समर्थ नहीं है।

जीव अपने भावों में दया या हिंसा करता है; वहाँ मिथ्यात्व, वह अपने जीव की सबसे बड़ी हिंसा है और सच्ची समझ से वह सबसे महान जीवहिंसा दूर होकर सच्ची स्व-दया प्रगट होती है। निचलीदशा में अनुकम्पा आदि का शुभभाव आता अवश्य है, परन्तु उसका आश्रय करने योग्य नहीं है; उसके आश्रय से ज्ञान या धर्म नहीं है। यदि उस शुभविकल्प का आश्रय माने तो उसके आश्रय से तो अज्ञान और मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है, वह हिंसा है, और उसका फल संसार है।

आत्मा की नौका किसके विश्वास से तैरती है ?

कोई आत्मा, ज्ञानस्वभाव से रहित नहीं होता; और कोई पुद्गल, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण रहित नहीं होता। गन्ध, पुद्गल का गुण है और ज्ञान, जीव का गुण है। गन्ध के कारण ज्ञान नहीं होता परन्तु त्रिकाली चैतन्यस्वभावी आत्मा है, उसी के आधार से ज्ञान होता है। आत्मा, स्पर्श-रस आदि से पृथक्, पर से भिन्न, देव-गुरु -शास्त्र से भिन्न और पुण्य-पाप के भावों से भी भिन्न, मात्र ज्ञानानन्द -स्वभावी है; उसके विश्वास से-रुचि से-श्रद्धा से ही धर्म होता है। जिस प्रकार लोक-व्यवहार में कहते हैं कि 'विश्वास से नाव तैरती है' उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव के विश्वास से आत्मा की

नौका तैरती है, अर्थात् चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा और आश्रय से संसार-समुद्र से पार होकर आत्मा, मुक्ति प्राप्त करता है। चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा के बिना किसी अन्य के विश्वास से धर्म नहीं होता और आत्मा की नौका, संसार-समुद्र से पार नहीं होती। पर के विश्वास में रुकनेवाला, संसार-समुद्र में डूब जाता है। ●●

एक चैतन्यतत्त्व के अतिरिक्त सब भूल

हे भाई! अपनी बुद्धि से देह और रागादिक को अपना मानकर, उनका तो तूने अनन्त काल से अभ्यास किया है, तथापि चैतन्यविद्या प्राप्त नहीं हुई और तेरा आत्मा अनुभव में नहीं आया तथा तू अज्ञानी ही रहा... इसलिए अब अपनी इस मिथ्याबुद्धि को छोड़कर, जिस प्रकार हम कहते हैं, उस प्रकार अभ्यास कर। ऐसे अभ्यास से छह महीने में तो तुझे अवश्य चैतन्यविद्या प्राप्त होगी... छह महीने तक लगनपूर्वक अभ्यास करने से तुझे अवश्य आत्मा का अनुभव होगा। भाई! छह महीना तो हम अधिक से अधिक कहते हैं। यदि तू उत्कृष्ट आत्मलगनपूर्वक प्रयत्न करेगा, तब तो दो घड़ी में ही तुझे आत्मा का अनुभव हो जाएगा।

अहा! देखो तो सही, यह चैतन्य के अनुभव का मार्ग! कितना सरल और सहज! चैतन्य का अनुभव, सहज और सरल होने पर भी दुनिया के व्यर्थ के कोलाहल में जीव रुक गया होने से उसे वह दुर्लभ हो गया है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

रस के ज्ञान का भिन्नत्व

रस, ज्ञान नहीं है क्योंकि रस (पुद्गलद्रव्य का गुण है,) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और रस के व्यतिरेक है।

अब, रस से ज्ञानस्वभाव को स्पष्टरूप से भिन्न बतलाते हैं।

रस में ज्ञान नहीं है और न रस के कारण ज्ञान होता है

भिन्न-भिन्न प्रकार के रस, ज्ञान में ज्ञात हों, वहाँ अज्ञानी लोग ऐसा मानते हैं कि इस रस के कारण हमें उसका ज्ञान हुआ। खट्टा रस आने से खट्टे का ज्ञान होता है और मीठा रस आने से मीठे का ज्ञान होता है; इस प्रकार वे रस के आश्रय से ज्ञान मानते हैं। उन्हें रस और ज्ञान की भिन्नता का भान नहीं है।

आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भाई! तेरा ज्ञान, रस में नहीं है और न रस के आश्रय से तेरा ज्ञान है। रस को जानते समय तुझे रस का अस्तित्व भासित होता है, परन्तु उस समय तेरे आत्मा में कुछ है या नहीं? उस समय तेरा ज्ञानस्वभाव तुझमें कार्य करता है या नहीं? या वह रस में ही चला गया है? तेरा ज्ञान, त्रिकाल आत्मा के साथ अभेद है; उसकी श्रद्धा कर और रस की श्रद्धा छोड़! रस के कारण ज्ञान हुआ, यह मान्यता छोड़! ज्ञान तो तेरी स्वभावशक्ति से ही होता है; इसलिए ज्ञान में स्वभाव का आश्रय कर!

भेदविज्ञानी के ज्ञान का कार्य

भेदविज्ञानी, रस को जानता हो और अल्प राग होता हो, उस समय भी ज्ञानस्वभाव की एकता में ही उसका ज्ञान कार्य कर रहा है। रस के साथ या राग के साथ एकता से उसका ज्ञान कार्य नहीं करता; किसी समय स्वभाव की एकता छोड़कर पर को नहीं जानता, इसलिए उसके प्रति समय ज्ञान की शुद्धता ही बढ़ती है।

अज्ञानी के ज्ञान का कार्य

अज्ञानी जीव, स्वभाव को न मानने से बाह्य में सुख मानते हैं। रस को जानते हुए उसमें एकाकार हो जाते हैं कि इस रस में बड़ा आनन्द आया! बहुत मीठा लगा! अरे भाई! काहे का आनन्द? तेरे आत्मा में आनन्द, सुख है या नहीं? रस तो जड़ है; क्या जड़ में तेरा आनन्द है? और क्या जड़ रस तेरे आत्मा में प्रविष्ट हो जाता है? तेरा आनन्द-सुख तो तेरे ज्ञानस्वभाव में ही है; सम्पूर्ण ज्ञानस्वभाव को भूलकर एक रस को जानने से ज्ञान वहीं राग करके रुक गया, उसे अज्ञानी जीव, रस का स्वाद मानते हैं परन्तु ज्ञान, पर में न रुककर आत्मस्वभावोन्मुख होने से स्वभाव का अतीन्द्रियआनन्द आता है, वही सच्चा सुख है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु में सुख नहीं है।

धर्म-अधर्म क्या?

गुलाबजामुन, लड्डू या आम के रस आदि का स्वाद आत्मा में नहीं आता; ज्ञान में मात्र ऐसा ज्ञात होता है कि यह रस है, यह स्वादिष्ट है, किन्तु ऐसा ज्ञात नहीं होता कि मैं स्वादिष्ट हूँ। इस प्रकार रस का और ज्ञान का भिन्नत्व ही है परन्तु अज्ञानी जीव,

स्वभाव से च्युत होकर, रस की रुचि में लीन हुआ है, वह अधर्म है; और परपदार्थों की रुचि से भिन्न होकर/छूटकर स्वभाव की रुचि द्वारा वर्तमान अवस्था को स्वभाव में धारण कर रखे-बना रखे, वह धर्म है। वर्तमान अवस्था, विकार में न रहकर स्वभाव में रहे, वह धर्म है। ज्ञानस्वरूप आत्मा और समस्त पर वस्तुएँ बिल्कुल पृथक् हैं — ऐसा जाने बिना और आत्मस्वरूप की रुचि किए बिना कभी धर्म नहीं होता।

सुख का सच्चा साधन क्या है ?

प्रत्येक जीव सुखी होना चाहता है। सुखी होने के लिए प्रथम तो यह समझ लेना चाहिए कि सुख का स्वरूप क्या है और उसका साधन क्या हैं ? वर्तमान अवस्था में दुःख है, इस कारण उसे दूर करके सुखी होना चाहता है; इसलिए वर्तमान अवस्था में दुःख है, उसे भी जान लेना चाहिए। यदि वर्तमान में स्वयं परिपूर्ण सुखी हो तो परपदार्थों के सन्मुख देखना न हो और न उन्हें प्राप्त करने की इच्छा हो। अज्ञानी जीव, परवस्तु प्राप्त करके अपना दुःख दूर करना चाहते हैं परन्तु वह प्रयत्न मिथ्या है। आत्मा का स्वभाव ही पूर्ण सुखरूप है, उसके विश्वास से अन्तरसाधन द्वारा ही वह प्रगट होता है; किन्हीं बाह्य साधनों द्वारा आत्मा को सुख नहीं होता।

अज्ञानी, पर में सुख मानकर पर की चाह करता है, उसके बदले स्वभाव की चाह-रुचि करे तो सुखी हो जाए। आत्मा ज्ञानस्वभावी स्वाधीन परिपूर्ण है, पर से पृथक् है; पर के अवलम्बन से उसे सुख हो — ऐसा वह पराधीन नहीं है। पर्याय में रागादि होने पर भी, अन्तर में श्रद्धा करना चाहिए कि मैं अपने स्वभाव से परिपूर्ण सुखरूप हूँ, ज्ञानादि अनन्त गुणों का भण्डार हूँ, अपने ही

अवलम्बन से मुझे सुख है। यदि ऐसी श्रद्धा न करे तो जैसे-जैसे परपदार्थ आयें, उनमें सुख मानकर ज्ञान वहीं एकाकार हो जाएगा। इससे उसका ज्ञान वर्तमान में परलक्ष्य से होनेवाले विकार में ही रुक जाएगा परन्तु सुख से परिपूर्ण अपना स्वभाव है, उसका आश्रय नहीं करेगा, इससे उसे सच्चा सुख नहीं होगा। पर्याय में शुभ-अशुभभाव होने पर भी, उस समय त्रिकाल एकरूप परिपूर्ण स्वभाव की श्रद्धा और विश्वास दूर न हो, उसे स्वभाव के आश्रय से सुख प्रगट होता है और विकार दूर होता जाता है।

किसके आश्रय से परिवर्तित होने से सुख प्रगट होता है ?

वर्तमान पर्याय में पर को जानने का ज्ञान का जो विकास है, उसी का विश्वास करे, अर्थात् उस विकास को ही पूर्ण आत्मा मान ले तो उस वर्तमान परलक्ष्यी विकास से आगे बढ़कर त्रिकाली स्वभाव की ओर नहीं ढलता; इससे त्रिकाली के आश्रय से उसकी वर्तमान दशा परिणमित नहीं होती परन्तु पर के आश्रय से ही परिवर्तित होती है। त्रिकाली के आश्रय बिना विकार और अपूर्णता दूर होकर शुद्धता और पूर्णता नहीं होती, अर्थात् सुख नहीं होता। सुख किसी दूसरे पदार्थ में नहीं है, और पर को जाने — उतनी अपनी दशा में भी सुख नहीं है। सुख अपने स्वभाव में है, उसका आश्रय करके परिणमित होने से पर्याय में सुख प्रगट होता है।

स्वलक्ष्य से धर्म, और परलक्ष्य से अधर्म

आत्मा ज्ञानस्वरूप है; शरीर, वाणी, देव-गुरु-शास्त्र इस आत्मा से पृथक् पदार्थ हैं। प्रत्येक वस्तु में द्रव्य-गुण तो त्रिकाल एकरूप हैं और उनका कार्य वर्तमान में नवीन-नवीन होता है। धर्म और अधर्म, यह दोनों कार्य हैं, जीव की अवस्था है। अधर्म क्यों होता

है और धर्म क्यों होता है ? — उसकी यहाँ बात है। जीव की जो वर्तमान दशा है, वह पर में से नहीं होती; वह वर्तमान दशा यदि देव-गुरु-शास्त्रादि पर के सन्मुख देखती रहे तो धर्म नहीं होता और उस वर्तमान अंश जितना ही आत्मा को माने तो भी धर्म नहीं होता। अपनी अवस्था, पर निमित्तों की ओर ही देखती रहे अथवा उस वर्तमान दशा के सन्मुख ही देखती रहे तो उससे अधिक (भिन्न) होकर स्वभावोन्मुख नहीं होती। यदि वह वर्तमान अवस्था, त्रिकाली द्रव्य की रुचि करके, उस द्रव्य के आश्रय से अभेद हो तो पर से भेदज्ञान हो और पर का, विकार का या वर्तमान पर्याय का आश्रय छूट जाये और स्वभाव के आश्रय से शान्ति हो-धर्म हो। तात्पर्य यह है कि परलक्ष्य से अधर्म है और स्वलक्ष्य से धर्म है।

पूर्ण के आश्रय से पूर्णता; अपूर्ण के आश्रय से विकार

आत्मा एक स्वतन्त्र वस्तु है, वह स्वत: परिपूर्ण और त्रिकाल स्थायी है। वर्तमान अवस्था में जो राग-विकार या अपूर्णता दिखायी देती है, उतना ही आत्मा नहीं है क्योंकि यदि उस वर्तमान भाव जितना ही आत्मा हो तो राग दूर करके वीतरागता कहाँ से होगी ? आत्मा वर्तमान भाव जितना नहीं है परन्तु त्रिकाल पूर्ण है। यदि उस पूर्ण का आश्रय करे तो अवस्था में भी पूर्णता प्रगट हो, परन्तु उस पूर्ण को स्वीकार न करे और वर्तमान भाव जितना ही अपने को माने तो उस अपूर्ण और विकारी भाव के आश्रय से तो अपूर्णता और विकार ही होगा, अर्थात् अधर्म ही होगा।

वर्तमान अशुद्धदशा के आश्रय से अशुद्धता दूर नहीं होती, परन्तु त्रिकाली शुद्धस्वभाव के आश्रय से अशुद्धदशा दूर होकर शुद्धता प्रगट होती है। धर्मी के होने के लिये प्रथम क्या करना

चाहिए ? — उसकी यह बात है। प्रथम पर से और विकार से भिन्न अपने आत्मस्वभाव को पहिचानने का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। पर से भिन्न आत्मस्वभाव कैसे जाना जाता है — उसी का यह वर्णन हो रहा है।

आचार्यभगवान भेदज्ञान कराते हैं

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इन 390 से 404 तक की पन्द्रह गाथाओं में ज्ञान को स्पष्टतया सर्व परद्रव्यों से भिन्न बताया है। उस पर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अद्‌भुत टीका की है। ऐसी आध्यात्मिक टीका इस काल में भरतक्षेत्र में अजोड़ है। उसका यह विस्तार होता है। आचार्यदेव पहले तो ज्ञान को सर्व परद्रव्यों से, उनके गुणों से और उनकी पर्यायों से भिन्न बताते हैं, विकार से भी भिन्न बताते हैं और फिर आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ ज्ञान की एकता है — ऐसा बतलाएँगे। इस प्रकार अस्ति-नास्ति द्वारा ज्ञानस्वभाव का पर से भेदज्ञान कराया है। ●●

वह तो कृतकृत्य है ही

अहो! जो इस चैतन्यस्वभाव का भान प्रगट करके, ध्यान में उसे ध्याता है, उसकी महिमा की क्या बात करना! उसने तो कार्य प्रगट कर लिया है; इसलिए वह तो कृतकृत्य है ही, परन्तु जिसने उसके कारणरूप रुचि प्रगट की है अर्थात् जिसे यह चिन्ता प्रगट हुई है कि अहो! मेरा कार्य कैसे प्रगट हो? मुझे अन्दर से आनन्दकन्द आत्मा का अनुभव कैसे प्रगट हो? उस आत्मा का जीवन भी धन्य है, संसार में उसका जीवन प्रशंसनीय है - ऐसा सन्त-आचार्य कहते हैं। - *पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

स्पर्श से ज्ञान का भिन्नत्व

स्पर्श, ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श (पुद्गलद्रव्य का गुण है,) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और स्पर्श के व्यतिरेक है।

स्पर्श नामक पुद्गलद्रव्य का गुण है। स्पर्श है, वह ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श अचेतन है, इसलिए ज्ञान और स्पर्श का भिन्नत्व है। रूखा-चिकना, नरम-कठोर, हलका-भारी, ठण्डा-गरम, यह आठ प्रकार का स्पर्श है, वह पुद्गल की अवस्था है; उसके आधार से आत्मा का ज्ञान नहीं है। उसके आधार से जो ज्ञान होता है, वह सुख का कारण नहीं है।

त्रिकालीद्रव्य के आधार से रहित ज्ञान अचेतन है

पुद्गल का स्पर्शगुण आत्मा में नहीं है और आत्मा के ज्ञान, सुख, श्रद्धा, चारित्र आदि कोई गुण स्पर्श में नहीं हैं। स्पर्श को जानने जितना आत्मा का ज्ञान नहीं है। स्पर्श के ज्ञान से आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता नहीं होते। स्पर्श को जाननेवाला ज्ञान, मुझ आत्मस्वभाव की एकाग्रता में मदद करेगा - ऐसा माननेवाले ने स्पर्श और ज्ञान को पृथक् नहीं माना है। त्रिकाली सामर्थ्य में से वर्तमान ज्ञान आता है, उस ज्ञान के द्वारा त्रिकाली सामर्थ्य को जानना चाहिए, उसके बदले स्पर्श को जानने जितना ही जो ज्ञान

को मानता है, उसने स्पर्श के आधार से ज्ञान माना है। उसका ज्ञान परमार्थ से अचेतन है।

स्पर्श के कारण ज्ञान हुआ — ऐसा न माने, किन्तु वर्तमान ज्ञान के आश्रय से, अर्थात् पर्याय के लक्ष्य से ज्ञान का परिणमन माने तो वह भी पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है। एक के पश्चात् एक ज्ञान-अवस्थारूप होनेवाला तो त्रिकाली ज्ञाता द्रव्य है। त्रिकालीद्रव्य परिणमित होकर अवस्थाएँ होती हैं। उस त्रिकालीस्वभाव के आश्रय से ज्ञान होता है। इस प्रकार श्रद्धा करके वर्तमान ज्ञान को उस त्रिकालीद्रव्य में लीन करना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है — वही भेदविज्ञान का सार है। जो ज्ञान, त्रिकालीद्रव्य के साथ एकता न करे और मात्र वर्तमान विकास में ही एकता माने, वह ज्ञान मिथ्या है।

स्पर्श तो अचेतन है; उसमें तो ज्ञान नहीं है, परन्तु स्पर्श के लक्ष्य से जो ज्ञान होता है, वह भी चेतन के साथ एक नहीं होता। पर्यायदृष्टि से हुआ ज्ञान, राग के साथ एकत्व रखता है; इसलिए वह वास्तव में ज्ञान नहीं है। त्रिकाल ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य से जो ज्ञान होता है, वही सम्यग्ज्ञान है। स्वभावोन्मुख सम्यग्ज्ञान, आत्मा ही है; आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं हैं।

शास्त्र के लक्ष्य से भेदविज्ञान नहीं होता

यहाँ जो ज्ञान स्वभावोन्मुख हुआ, उसी को चेतन कहा है; वर्तमान अवस्था में राग को कम करके शास्त्रादि के अभ्यास से ऐसा कहे कि — 'पर से ज्ञान नहीं होता, पर से ज्ञान पृथक् है' — और इस प्रकार शास्त्र के लक्ष्य में ही रुका रहे तो वह ज्ञान भी यथार्थ ज्ञान नहीं है क्योंकि उस जीव को वर्तमान पर्याय में पर के

लक्ष्य से प्रगट हुए क्षणिक ज्ञान की ही रुचि है, वह वर्तमान अंश को ही पूर्ण स्वरूप मान लेता है; उसे त्रिकाल ज्ञानस्वभाव की रागरहित श्रद्धा नहीं है; वह भी शास्त्र के लक्ष्य से राग में ही रुका हुआ है। परलक्ष्य से तीव्र कषाय में से मन्द कषाय हुई है, इससे मात्र राग ही बदला है, परन्तु वह राग से छूटकर स्वभाव में नहीं आया है, स्वभाव का परिणमन नहीं हुआ है; इसलिए उसे भेदविज्ञान नहीं होता।

ज्ञान अपने स्वभाव से ही होता है; बाहर के किसी भी पदार्थ से ज्ञान नहीं होता — ऐसा समझने में पहले सत् का श्रवण तथा शास्त्र का लक्ष्य होता है परन्तु उस श्रवण के लक्ष्य से या शास्त्र के लक्ष्य से ज्ञान नहीं है — ऐसा समझकर उन शास्त्रादि का लक्ष्य छोड़कर, यदि अपने ज्ञानस्वभाव की ओर ढले तो सम्यग्ज्ञान होता है, और राग से पृथक् होता है।

स्व का आश्रय ही भेदविज्ञान का सार

शास्त्रादि तो स्वयं ही अचेतन हैं, वे ज्ञान के कारण नहीं हैं; और देव-गुरु चेतन हैं, परन्तु उनका ज्ञान उन्हीं में है; दूसरे आत्मा में उनका ज्ञान किंचित् नहीं आता। वे इस आत्मा को ज्ञान के कारण बिल्कुल नहीं होते। इस आत्मा का ज्ञान, स्व में परिपूर्ण है और देवादि परद्रव्य में अपना ज्ञान नहीं है; इसलिए इस आत्मा की अपेक्षा से दूसरे सभी आत्मा अचेतन हैं; उनका ज्ञान इस आत्मा में नहीं आता, इसलिए देव-गुरु या सिद्ध भगवान का लक्ष्य भी छोड़ने योग्य है। सिद्ध भगवान के आलम्बन से भी इस आत्मा को राग होता है; इसलिए सबसे भिन्न अपने आत्मा को जानकर उसी का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और वीतरागता होती

है। स्व-पर को भिन्न जानकर नित्य आत्मस्वभाव का आश्रय करना ही भेदविज्ञान का सार है।

सत्यधर्म के श्रवण, ग्रहण, धारणा, मन्थन और परिणमन की उत्तरोत्तर दुर्लभता

अनन्तानन्त काल में मनुष्यत्व मिलना दुर्लभ है। मनुष्यभव में ऐसी सत्यधर्म की बात सुनने को कदाचित् ही मिलती है। इस समय तो लोगों को यह बात बिल्कुल नयी है। ऐसी सत्य बात सुनने को मिलना महा दुर्लभ है; सुनने के पश्चात् बुद्धि में उसका ग्रहण होना दुर्लभ है, 'यह क्या न्याय कहना चाहते हैं' — ऐसा ज्ञान में आ जाना दुर्लभ है। ग्रहण होने के पश्चात् उसकी धारणा होना दुर्लभ है। सुनते समय अच्छा लगे और सुनकर बाहर निकलने पर सब भूल जाये तो उसके आत्मा में कहाँ से लाभ होगा? श्रवण, ग्रहण और धारणा करके पश्चात् एकान्त में अपने अन्तरंग में विचार करे, अन्तर में मन्थन करके सत्य का निर्णय करे, यह दुर्लभ है परन्तु जिसने सच्ची बात ही न सुनी हो, वह ग्रहण क्या करेगा? और धारणा किसकी करेगा? अन्तर में यथार्थ निर्णय करके उसे रुचि में परिणमित करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना, वह महान दुर्लभ-अपूर्व है। इस सम्यग्दर्शन के बिना किसी भी प्रकार जीव का कल्याण नहीं होता।

देखो, इसमें प्रारम्भिक उपाय कहा है। प्रथम तो सांसारिक लोलुपता कम करके तत्त्व — श्रवण करने के लिए निवृत्ति लेना चाहिए। श्रवण, ग्रहण, धारणा, निर्णय और रुचि में परिणमन -इतने बोल आए; वे सभी एक से एक दुर्लभ हैं। श्रवण करके विचार करे कि मैंने आज क्या सुना है? नया क्या समझा है? —

इस प्रकार अन्तर में प्रयत्न करके समझे तो आत्मा की रुचि जागृत हो और तत्त्व समझ में आये परन्तु जिसके सत्य के श्रवण, ग्रहण और धारणा का ही अभाव है, उसे तो सत्स्वभाव की रुचि ही नहीं होती और सत्स्वभाव की रुचि के बिना उसका परिणमन कहाँ से होगा? रुचि के बिना सत्य समझ में नहीं आता और धर्म नहीं होता।

सत् धर्म के श्रवण के पश्चात् आगे बढ़ने की बात

भगवान ने कहा है अथवा ज्ञानी कहते हैं, इसलिए यह बात सत्य है — इस प्रकार पर के लक्ष्य से माने तो वह शुभभाव है, वह भी सच्चा ज्ञान नहीं है। प्रथम देव-गुरु के लक्ष्य से वैसा राग होता है परन्तु देव-गुरु के लक्ष्य को छोड़कर स्वयं अपने अन्तर-स्वभावोन्मुख होकर रागरहित निर्णय करे कि मेरा आत्मस्वभाव ही ऐसा है, तो उसके आत्मा में सच्चा ज्ञान हुआ है। इससे कहीं सत्समागम का या श्रवणादि का निषेध नहीं है; सत्समागम से सत्धर्म का श्रवण किए बिना तो कोई जीव आगे बढ़ ही नहीं सकता, किन्तु उन श्रवणादि के पश्चात् आगे बढ़ने की यह बात है। मात्र श्रवण करने में धर्म न मानकर ग्रहण, धारणा और निर्णय करके आत्मा में रुचिपूर्वक परिणमित करना चाहिए।

ज्ञान का फल सुख

स्पर्श है, वह ज्ञान नहीं है, इससे अमुक वस्तु का स्पर्श होने से उसका ज्ञान नहीं होता, और कोमलादि स्पर्श के कारण सुख नहीं होता। ज्ञान और सुख एक ही हैं। अज्ञान दूर हुआ, वह ज्ञान का फल — ऐसा कहा जाता है, वह नास्ति की अपेक्षा से है; अस्ति से कहने में ज्ञान का फल सुख है।

त्रिकाली तत्त्व के स्वीकार बिना निर्मल पर्याय का पुरुषार्थ नहीं

आत्मा अनादि-अनन्त ज्ञानादि गुणों का पिण्ड है, आनन्दस्वरूप है; वर्तमान में जो अपूर्णदशा है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। जिस प्रकार सोना अपनी वर्तमान एक कुण्डलादि अवस्था जितना नहीं है, परन्तु अँगूठी, हार इत्यादि अनेक अवस्थाएँ होने की शक्ति उसमें विद्यमान है। एक अवस्था बदलकर दूसरी अवस्था हो, वहाँ सोना तो स्थायी रहता है; और सोने की अवस्था सोने के ही कारण होती है, सुवर्णकार या हथोड़ी आदि के कारण नहीं होती।

यदि सोने को एक कुण्डलादि अवस्था जितना ही माने तो 'इस सोने में से कुण्डल बदलकर अंगूठी बनाना है' — ऐसा जो भिन्न पर्याय का ज्ञान है, वह मिथ्या सिद्ध होगा। भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ बदलती होने पर भी, सोना सोनेरूप स्थायी रहता है — ऐसा ज्ञान स्वीकार करे, तभी कुण्डल तोड़कर कड़ा आदि करने का भाव होता है, इस प्रकार वहाँ भी सोने की ध्रुवता स्वीकार करता है। उसी प्रकार आत्मा वर्तमान अवस्था जितना नहीं है, परन्तु त्रिकाल स्थायी / ध्रुव है; इस प्रकार ध्रुवस्वभाव को स्वीकार करे तो उस ध्रुव के आधार से नवीन निर्मलदशा का उत्पाद हो और मलिनदशा का व्यय हो।

ध्रुव के आधार से वर्तमान पर्याय होती है — ऐसा न मानकर, जो पर के कारण आत्मा की वर्तमानदशा को मानता है, उसने अपने स्वाधीन तत्त्व को नहीं माना है और जिसने वर्तमान पर्याय जितना ही ज्ञान माना है, उसे भी वह वर्तमान बदलकर नवीन निर्मल वर्तमान करना नहीं रहता; जिसने वर्तमान जितना ही ज्ञान माना है,

उसे वर्तमान का ही आश्रय करना रहा, परन्तु त्रिकाल ध्रुव का आश्रय करना न रहा; इस प्रकार उसने विकारदशा दूर होकर मोक्षदशा प्रगट करने का पुरुषार्थ स्वीकार नहीं किया है। उसका मिथ्यात्व और अज्ञान दूर नहीं होता। उसने एक समय जितना ही आत्मा को माना है परन्तु त्रिकाल आत्मा को स्वीकार नहीं किया है।

पर से ज्ञान माननेवाले को संयोगों में एकत्वबुद्धि

आत्मा का ज्ञान पर से होता है — ऐसा माननेवाला सम्पूर्ण आत्मद्रव्य का नाश करता है, और जो वर्तमान पर्याय जितना ही आत्मा को मानता है, वह दूसरी अवस्थाओं का नाश करता है, अर्थात् द्रव्य का ही नाश करता है। इन्द्रियों और परपदार्थों आदि संयोगों के कारण ज्ञान हुआ — ऐसा जो मानता है, वह जीव उस संयोग के अभाव में ज्ञान का ही अभाव मानेगा; इसलिए उसने ज्ञान और आत्मा की एकता नहीं मानी है परन्तु ज्ञान और संयोगों की एकता मानी है। उस जीव को सदैव स्पर्शादि संयोगों की भावना बनी रहती है, यह अधर्म है।

ज्ञान की वर्तमान अवस्था जितना ही आत्मा नहीं है परन्तु स्थायी ज्ञानस्वभाव से पूर्ण आत्मा है, और उसी में से ज्ञान आता है; इस प्रकार यदि प्रतीति करे तो वह पूर्ण स्वभाव के आश्रय से अपूर्ण दशा का अभाव करके पूर्ण अवस्था प्रगट करेगा।

स्वभाव को समझना ही न्याय

ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है, धर्म का स्वरूप ऐसा ही है। न्याय से वस्तुस्वभाव कहा जा रहा है, जैसा-तैसा मान लेने की बात नहीं है। न्याय का अर्थ है सम्यग्ज्ञान। 'न्याय' शब्द में 'नी' धातु है।

'नी' का अर्थ है ले जाना। जैसा वस्तु का स्वभाव है, वैसे स्वभाव में ज्ञान को ले जाना, अर्थात् ज्ञान में यथार्थ वस्तुस्वभाव को समझना, वह न्याय है।

पर से भिन्नत्व जाने तो स्व में स्थिर हो

स्पर्शादि के कारण मेरा ज्ञान है — ऐसा माननेवाले को स्पर्श के ज्ञान से आगे बढ़कर स्वभाव में ढलना नहीं रहता; स्पर्श का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव में अपने ज्ञान को एकाग्र करूँ — यह बात उसको नहीं रहती; अर्थात् मेरी वर्तमान दशा हीन है, उसे दूर करके स्वभाव के आश्रय से मैं पूर्ण सुखी होऊँगा — ऐसा उसे विश्वास नहीं है। अत: यहाँ आचार्यदेव, आत्मा का ज्ञानस्वभाव पर से भिन्न बतलाते हैं। अपने ज्ञान को पर से भिन्न जाने तो स्व में स्थिर हो।

अवस्था में नवीन ज्ञान कहाँ से आता है?

ज्ञान चेतन है; ज्ञान की अवस्था चेतन के आधार से होती है या अचेतन के आधार से? चेतन की अवस्था अचेतन के आधार से नहीं होती। जिस प्रकार सोने में भिन्न-भिन्न आकार उसकी अपनी योग्यता-सामर्थ्य से होते हैं, स्वर्णकार के कारण नहीं। यदि स्वर्णकार के कारण सोने के आकार होते हों तो उस समय सोने के स्वभाव ने क्या किया? उस समय की सोने की अपनी अवस्था क्या हुई? इसलिए सोने के ही कारण उसकी अवस्था होती है और सोना वर्तमान अवस्था के आकार जितना ही नहीं है। यदि वह वर्तमान आकार जितना ही हो तो फिर वह आकार बदलकर नया आकार कहाँ से आयेगा? उसी प्रकार ज्ञान की नयी-नयी अवस्था ज्ञान के ही कारण होती है, निमित्तों के कारण नहीं। ज्ञेय वस्तु आई, इसलिए

ज्ञान हुआ; कोमल स्पर्श आया, इसलिए उसका ज्ञान हुआ — ऐसा नहीं है, परन्तु ज्ञान की उस अवस्था के सामर्थ्य से ही नया ज्ञान हुआ है; और स्पर्श की ओर का ज्ञान बदलकर आत्मा की ओर का ज्ञान करना हो तो वह ज्ञान किसी परलक्ष्य से नहीं होता, वर्तमान ज्ञानपर्याय के लक्ष्य से नहीं होता; पूर्व की अवस्था तो व्यय हो गयी है, उसमें से नवीन ज्ञान नहीं आता, परन्तु जो नित्य / स्थायी द्रव्य है, उस ओर उन्मुख होता हुआ ज्ञान, आत्मा को जानता है; नित्य के आश्रय से ही ज्ञान आता है।

मैं परज्ञेय नहीं हूँ, और उन ज्ञेयों में से मेरा ज्ञान नहीं आता, व्यतीत ज्ञान-अवस्थाओं में से ज्ञान नहीं आता, राग के कारण ज्ञान नहीं होता, और वर्तमान वर्तती ज्ञान-अवस्था में से दूसरी अवस्था नहीं आती, परन्तु सदैव मेरा ज्ञानस्वभाव है, उसमें से सदैव ज्ञान -अवस्था होती रहती है; इस प्रकार यदि अपने ज्ञानस्वभाव की रुचि करके उस ओर उन्मुख हो तो अवस्था में सम्यग्ज्ञान प्रगट हो, धर्म हो और पर की रुचि दूर हो जाए।

ज्ञानी स्व के आश्रय से सुखी और अज्ञानी पराश्रय मानकर दुःखी

ज्ञानी को वर्तमान अवस्था का आश्रय नहीं है, परन्तु त्रिकाली स्वभाव का आश्रय है। जब अपनी पर्याय के आश्रय से भी धर्म नहीं होता, तब फिर परवस्तु के आश्रय से धर्म या ज्ञान होता है — यह बात कहाँ रही? अज्ञानी जीव अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर पर के आश्रय से सुख मानता है, वह अधर्म है। तीन काल-तीन लोक में किसी द्रव्य को किसी अन्य द्रव्य का आश्रय नहीं है। अज्ञानी पर का आश्रय मानता है परन्तु परवस्तु उसे आश्रय

नहीं देती। निमित्त या पर के आश्रय से कोई जीव सुखी नहीं होता परन्तु पर का आश्रय माननेवाला स्वयं दुःखी होता है। अपना द्रव्य अपने स्वभाव से परिपूर्ण नित्य परिणामी है, उस द्रव्य के आश्रय से ही प्रत्येक जीव को सुख होता है। त्रिकाली पदार्थ स्वयं अपनी अवस्थारूप से बदलता है, कहीं किसी दूसरे पदार्थ की अवस्था किसी दूसरे पदार्थरूप परिवर्तित नहीं होती; इसलिए सर्व परद्रव्यों से भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव को स्वीकार करे तो धर्म होता है।

ज्ञान की आत्मा के साथ एकता और पर से भिन्नता

स्पर्श अचेतन है, उसमें किंचित् ज्ञान नहीं है; उसकी जड़-पुद्गल के साथ एकता है, और ज्ञान से भिन्नता है। ज्ञान चेतन है, वह परिपूर्ण होता है, उसकी आत्मा के साथ एकता है और पुद्गल से भिन्नता है; इस प्रकार जड़ पदार्थों से ज्ञान भिन्न है, इसलिए जड़ के आश्रय से ज्ञान नहीं है; आत्मा के आश्रय से ज्ञान है — ऐसा समझकर, जड़ का आश्रय छोड़कर, आत्मस्वभाव का आश्रय करे तो जड़ को और आत्मा को भिन्न जाना कहलाये।

कैसा होता है धर्मी जीव को भेदज्ञान?

आत्मा सर्व परवस्तुओं से भिन्न है — ऐसा कहते ही, पर की अपेक्षा बिना अपने ज्ञानस्वभाव से आत्मा परिपूर्ण है — ऐसा सिद्ध होता है। परसन्मुख देखकर पर से भिन्नत्व का निर्णय नहीं होता, किन्तु अपने परिपूर्ण स्वभाव के सन्मुख देखने से सर्व परपदार्थों से भिन्नत्व का निर्णय होता है। जिस प्रकार सोने को तांबे के संयोग की अपेक्षा से देखें तो उसे 98-99 टंच आदि भेद से कहा जाता है परन्तु तांबे के संयोग का लक्ष्य छोड़कर अकेले सोने को देखें

तो सोना तो सौटंची ही है। सोने और तांबे का भेद जाननेवाला सोने का ही मूल्य करता है, तांबे का नहीं; उसी प्रकार आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण है। पर-संयोग और पर-संयोग के लक्ष्य से होनेवाले भावों की दृष्टि से देखने पर ज्ञान में अपूर्णता दिखायी देती है, परन्तु पर-संयोग और रागादि भावों की अपेक्षा छोड़कर अकेले ज्ञानस्वभाव को देखें तो वह परिपूर्ण ही है; उसमें अपूर्णता या विकार नहीं है; इस प्रकार स्व-पर का भेद जाननेवाला धर्मात्मा, रागादि भावों द्वारा, पर-संयोग द्वारा या अपूर्ण ज्ञान के द्वारा आत्मा का मूल्यांकन नहीं करता — (उनके जितना ही आत्मा को नहीं मानता) परन्तु उन रागादि से भिन्न जो ज्ञानमात्र स्वभाव है, उसी को आत्मा का स्वरूप जानकर उसकी श्रद्धा करता है, उसी का आदर और आश्रय करता है, इससे उसे प्रतिक्षण धर्म होता है। जिसने राग से भिन्न आत्मा को नहीं जाना है, वह राग को ही आत्मा का स्वरूप मानता है और उसका आदर करता है; इसलिए उसे कभी भी धर्म नहीं होता।

भेदविज्ञान और उसका फल मुक्ति

जैसे - सोने का पिण्ड जिस तिजोरी में रखा हो, वह तिजोरी और सोना भिन्न हैं; उसी प्रकार इस शरीर में स्थित आत्मा वास्तव में शरीर से भिन्न ही है। जिस प्रकार सोने में तांबे का भाग है, वह सोने का स्वरूप नहीं है; उसी प्रकार आत्मा की अवस्था में जो रागादि अशुद्धभाव हैं, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। इस प्रकार रागादि रहित शुद्ध ज्ञानस्वभाव से आत्मा को जाने-माने और उसमें स्थिर हो तो वीतरागता और केवलज्ञान हो। राग और आत्मा के भेदविज्ञान बिना किसी भी प्रकार मुक्ति नहीं होती।

नीतिपूर्वक पैसा कमाने का भाव, धर्म है या पाप?

अनेक जीव ऐसा मानते हैं कि हमें व्यापार-धन्धे में अनीति नहीं करना चाहिए, परन्तु नीति से पैसा कमाना चाहिए। इस नीति को वे धर्म मानते हैं, अर्थात् पैसा भी कमायें और धर्म भी हो! परन्तु इसमें धर्म नहीं है। पैसा कमाने का भाव, पाप ही है, उसमें यदि अनीति न करे — नीति रखे तो कम पाप होता है परन्तु धर्म नहीं होता।

एक सरकारी अफसर ऐसा नीतिवान था कि उसे लाखों रुपये की लांच (रिश्वत) मिले, तो भी नहीं लेता था। एक बार उसने एक ज्ञानी से पूछा — महाराज! लोग मुझे पाँच-पाँच लाख रुपये रिश्वत देने आते हैं, लेकिन मैं नहीं लेता, तो मुझे कितना धर्म होता होगा?

ज्ञानी ने उत्तर दिया — उसमें किंचित् धर्म नहीं होता। नौकरी भले ही नीतिपूर्वक करो, लेकिन उसमें पैसा कमाने का भाव है, इससे पाप ही है। रिश्वत आदि अनीति न करे तो कम पाप हो — इतना ही; बाकी उसमें धर्म तो हो ही नहीं सकता। स्व-पर के भेदविज्ञान बिना धर्म कैसा?

आत्मा के भान बिना वास्तव में पाप घट ही नहीं सकता

व्यापार-धन्धे आदि में अनीति, चोर-बाजारी करनेवाले को महान पाप है और नीतिपूर्वक करे तो अल्प पाप है, परन्तु वास्तव में पाप कम हुआ कब कहलाता है? जो पाप दूर हुआ, वह फिर कभी न हो तो वह कम हुआ कहलाता है। ऐसा कब होता है? मैं पाप और पुण्यरहित ज्ञानस्वरूप हूँ, मैं पाप को कम करनेवाला सर्व पापों से रहित ही हूँ, पाप या पुण्य मेरा स्वरूप ही नहीं है; इस प्रकार अपने ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य से जो पाप दूर हुआ सो हुआ; वह फिर कभी नहीं होगा। स्वरूप की एकाग्रता से क्रमशः पुण्य-पाप दूर

होते-होते सर्वथा वीतरागता हो जाएगी। पाप को छोड़नेवाला स्वयं सम्पूर्ण पापरहित कैसा है ? पाप को छोड़कर स्वयं किस स्वरूप से रहनेवाला है ? उसके भान बिना वास्तव में पाप को नहीं छोड़ सकता, अर्थात् अपने आत्मस्वभाव के लक्ष्य बिना वास्तव में अनीति नहीं छोड़ सकता — ऐसा निश्चित हुआ।

वास्तव में आत्मा के लक्ष्य बिना अनीति का त्याग नहीं

लोग नीति-नीति कहते हैं, परन्तु यदि यथार्थरूप से नीति की सीमा बाँधी जाए तो उसमें भी आत्मस्वभाव का ही लक्ष्य आता है। किस प्रकार आता है ? वह कहते हैं —

किसी ने ऐसा निश्चित किया कि 'मुझे अनीति से पैसा नहीं लेना है।' अब चाहे जैसा प्रसंग आये तो भी वह अनीति नहीं करेगा। देह जाने का प्रसंग आ जाने पर भी वह अनीति नहीं करेगा, अर्थात् शरीर छोड़कर भी नीति रखना चाहता है। शरीर कब छोड़ सकता है ? यदि शरीर छोड़ते समय श्रद्धा में डगमगाहट हो - द्वेष हो तो वास्तव में उसका शरीर छोड़ने का भाव नहीं है, परन्तु शरीर उसके अपने कारण से छूटता है। शरीर छूटते समय अन्तर में राग-द्वेष न हो अथवा अनीति करके शरीर रखने का मन न हो तो नीति के लिए शरीर छोड़ा कहलाये। अब, शरीर छोड़ते समय राग-द्वेष कब नहीं होता ? यदि शरीर के ऊपर ही लक्ष्य हो, तब तो राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा परन्तु शरीर से भिन्न अपने आत्मा को जानकर उसका लक्ष्य हो तो शरीर को राग-द्वेष बिना छोड़ सकता है। इसलिए 'मैं शरीर से भिन्न हूँ, पैसा और अनीति से रहित मेरा ज्ञानस्वरूप है' — इस प्रकार अपने शुद्धस्वरूप के लक्ष्य बिना वास्तव में अनीति का त्याग नहीं हो सकता। आत्मा के

भान बिना जो अनीति का त्याग करता है, उसके वास्तव में पाप दूर नहीं हुआ है, किन्तु वर्तमान पर्याय में मन्दकषाय है।

जैनी-नीति ऐसी है

इस प्रकार आत्मा की पहचान करने में ही सच्ची नीति आती है। यह 'जैनी-नीति' है। स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप की यथावत् जानना ही सच्ची नीति है।

पैसादि के आने-जाने की क्रिया तो स्वतन्त्र है; जीव इच्छा करता है परन्तु पर में कुछ नहीं करता। इस प्रकार वस्तुस्वरूप समझने में नीति का पालन है, और उससे विपरीत मानने में - मैं पर का कुछ कर सकता हूँ — ऐसा मानने में अनन्त अनीति का सेवन है।

इच्छा से पर का कार्य भी नहीं होता और इच्छा से ज्ञान भी नहीं होता। इच्छा, आत्मा का स्वभाव नहीं है। ज्ञान का कार्य इच्छा नहीं है और इच्छा का कार्य पर में नहीं होता। प्रत्यक्ष दिखायी देता है कि अपना प्राणों से भी प्यारा एक पुत्र हो, वह बीमार पड़ा हो, तो वहाँ वह निरोग हो जाए और उसकी मृत्यु भी न हो — ऐसी अपनी तीव्र से तीव्र आकाँक्षा होती है, तथापि वह मर जाता है। तेरी इच्छा, पर में क्या कर सकती है ? सबसे निकट अपना शरीर है, उसमें भी अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं होता। रोग की इच्छा न होने पर भी शरीर में रोग होता है, और उस रोग को जल्दी मिटाने की इच्छा होने पर भी वह उल्टा बढ़ता जाता है। इस शरीर का भी स्वयं कुछ नहीं कर सकता, तब फिर बाह्य का तो क्या करेगा ? मैं प्रमाणिकता से पैसा कमा लूँ — ऐसी जिसकी मान्यता है, वह अनीति का सेवन करता है; जैनधर्म की नीति का उसे पता नहीं है। स्व-पर का भेदज्ञान करना ही जैनी-नीति है, और उसका फल मुक्ति है।

अनीति का त्यागी

'मुझे अनीतिपूर्वक आजीविका नहीं करना है' — इस प्रकार जो अनीति का त्याग करना चाहता है, उससे कोई कहे कि अमुक अनीति करो, नहीं तो प्रतिकूलता आएगी, अथवा अनीति न करने पर प्राण लेने की धमकी दे, तथापि उससे अनीति नहीं होगी; तथा जो प्रतिकूलता आये, उसमें खेद भी न हो तो उसे अनीति का त्याग किया कहा जाता है। यदि उसे प्रतिकूलता के प्रति अरुचि आये तो नीति के प्रति ही अरुचि है, और उसने वास्तव में अनीति का त्याग नहीं किया है।

जिसने शरीर को अपना माना है, वह अनीति नहीं छोड़ सकेगा। इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मस्वभाव की रुचि में ही सच्ची नीति का पालन और अनीति का त्याग है। स्वभाव के आश्रय से रुचि में तीन काल की अनीति से छूट जाने के पश्चात् अस्थिरता के कारण जो राग-द्वेष होता है, उसका भी स्वभाव के आश्रय से नाश करके वीतराग होगा क्योंकि राग-द्वेष होता है, उसे वह पर के कारण नहीं मानता और उस राग-द्वेष की रुचि नहीं है; इस कारण उसका राग-द्वेष मर्यादित है।

कौन पाल सकता है सच्चा ब्रह्मचर्य ?

जिस प्रकार ऊपर नीति के सम्बन्ध में कहा है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यादि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। आत्मा की रुचि के बिना वास्तव में अब्रह्मचर्य का त्याग नहीं होता। जिसे आत्मा की दृष्टि नहीं है और देह पर ही दृष्टि है, उसे स्थायी ब्रह्मचर्य / सच्चा ब्रह्मचर्य नहीं होता। कोई सच्चा ब्रह्मचारी हो, उससे कोई कहे कि तू मेरे साथ अमुक दुष्कर्म कर, नहीं तो तुझ पर मिथ्या आरोप

लगाकर तुझे मरवा डालूँगा; इस प्रकार मरण का प्रसंग आए तो अन्तर में खेद किए बिना शरीर का त्याग कर देगा परन्तु अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करेगा। यदि उस प्रसंग पर अन्तर में खेद हो कि - अरे रे! ब्रह्मचर्य के कारण मरण-प्रसंग आया तो उसे वास्तव में ब्रह्मचर्य की रुचि नहीं है और उसने अब्रह्मचर्य का त्याग नहीं किया है। मृत्यु आये, तथापि शरीर के प्रति राग कब नहीं होता? जबकि शरीर से भिन्न, राग-द्वेष रहित, त्रिकालस्वभाव का लक्ष्य हो तो देह के प्रति ममत्वबुद्धि का राग दूर हो जाता है। प्रथम तो ज्ञाता-दृष्ट आत्मस्वभाव की पहचान करके श्रद्धा का दोष दूर करना चाहिए; श्रद्धा का दोष दूर होने के पश्चात् अल्प काल में क्रमश: चारित्र का दोष भी दूर हो जाता है।

विकार को कौन दूर करता है?

जीव की अवस्था में जो रागादि विकार होता है, वह पर के कारण नहीं होता परन्तु अपनी ही अवस्था की निर्बलता से होता है। यदि पर के कारण रागादि होना माने तो स्वयं कभी उन्हें टालने का प्रयत्न नहीं करेगा परन्तु अपनी अवस्था की निर्बलता से राग-द्वेष होता है — ऐसा जाने तो उस निर्बलता की स्वभाव की शक्ति के साथ तुलना करेगा और इससे त्रिकालीस्वभाव का आश्रय करके वह निर्बलता दूर करके वीतराग हो जाएगा।

भेदविज्ञानी का ज्ञातापना

मैं ज्ञानमूर्ति चैतन्य हूँ; जो स्पर्श है, वह मैं नहीं हूँ, और स्पर्श के कारण मेरा ज्ञान नहीं है; इस प्रकार जिसे स्पर्शरहित असंख्यप्रदेशी अरूपी चैतन्यस्वभाव का भान है, वह जीव, स्पर्शादि के ज्ञान के समय स्वभाव का आश्रय छोड़कर नहीं जानता; और स्पर्शादि के

आलम्बन से जो राग-द्वेष होते हैं, उनका भी स्वभाव के आश्रय से ज्ञाता ही है; स्वभाव के आश्रय द्वारा रागादि दूर होते जाते हैं। जीव की इच्छा से परद्रव्य में कुछ नहीं होता, और उस इच्छा के कारण ज्ञान विकसित नहीं होता — ऐसा निर्णय होने से ज्ञानी को इच्छा का भी कर्तृत्व नहीं है। कर्तृत्वरहित इच्छा बिल्कुल अपंग है, उस इच्छा का कुछ भी बल नहीं है परन्तु स्वभाव की ओर का ही बल बढ़ता जाता है और इच्छा टूटती जाती है; इस प्रकार सम्पूर्ण वीतराग होकर मुक्ति प्राप्त करता है।

अज्ञानी को बाह्यदृष्टि से मिथ्याज्ञान और ज्ञानी को अन्तर्दृष्टि से सम्यग्ज्ञान

पहले तत्त्व का ज्ञान नहीं था और फिर हुआ; इससे ज्ञान बढ़ा, वह ज्ञान कहाँ से आया? क्या स्वाध्यायमन्दिर आदि क्षेत्र में से आया? वाणी में से आया? शुभराग में से आया? या पूर्व की अल्प दशा में से आया? इनमें से कहीं से ज्ञान नहीं आया है परन्तु त्रिकाली ज्ञानशक्ति में से आया है। उस शक्ति के विश्वास से सम्यग्ज्ञान होता है।

अज्ञानी जीव, ज्ञान बढ़ने का कारण जो त्रिकाली शक्ति है, उसे न देखकर, बाह्य-संयोग तथा राग को देखते हैं और उनके आश्रय से ज्ञान मानते हैं, वह अज्ञान है। वाणी श्रवण की, इसलिए मुझे ज्ञान हुआ — ऐसा बाह्य से मानते हैं, परन्तु अन्तरस्वभाव में से ज्ञान आता है, उस स्वभावशक्ति को वे नहीं मानते। इस प्रकार अज्ञानी को बाह्य संयोगदृष्टि है, इसलिए उसका सारा ज्ञान मिथ्या है, संसार का कारण है। ज्ञानी को अन्तरस्वभावदृष्टि है, और स्वभाव के आश्रय से उसका सारा ज्ञान सम्यक् है; वह सम्यग्ज्ञान, मोक्ष का कारण है।

धर्म करनेवाले जीव को क्या जानना चाहिए ?

आत्मा का धर्म कहाँ होता है ? यह जाने बिना किसी जीव को धर्म नहीं होता। आत्मा का धर्म कहीं पर में नहीं होता परन्तु आत्मा की पर्याय में होता है। अपने त्रिकाली ज्ञानस्वभाव की ओर जो पर्याय ढले, उसमें धर्म होता है। जिसे धर्म करना है, उसे प्रथम यह तो स्वीकार करना ही चाहिए कि मैं आत्मा हूँ, मुझमें ज्ञानादि अनन्त शक्तियाँ त्रिकाल हैं और प्रति समय मेरी अवस्था बदलती रहती है। वह बदलती हुई अवस्था, पर का आश्रय करती है, वह अधर्म है; और पर का आश्रय छोड़कर, रागरहित होकर स्वभावोन्मुख होकर वहाँ एकाग्र होने से जो दशा प्रगट हाती है, वह धर्म है और स्वभाव में परिपूर्ण एकाग्रता होने से पूर्णदशा / केवलज्ञान प्रगट होता है। जिन्हें वह केवलज्ञान प्रगट हुआ है — ऐसे देव कैसे होते हैं ? उनकी वाणीरूप शास्त्र कैसे होते हैं ? और उस केवलज्ञान के साधक गुरु कैसे होते हैं ? उनकी पहचान, धर्म करनेवाले जीव को प्रथम होनी ही चाहिए।

अज्ञान है अधर्म और सम्यग्ज्ञान है धर्म

आत्मा में ज्ञानगुण त्रिकाल है, वह प्रति समय प्रगट होता है; उसकी अवस्थाएँ पाँच प्रकार की हैं — मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान। उनमें से यहाँ मति-श्रुतज्ञान की बात है। पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा जो ज्ञान जानता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं और इन्द्रियों के बिना, मन द्वारा तर्क से जो ज्ञान जानता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यहाँ आचार्य भगवान ऐसा बतलाते हैं कि यह ज्ञान परलक्ष्य से जानें तो वे मिथ्यामति और मिथ्याश्रुत हैं, वह अधर्म है और स्वभाव के लक्ष्य से हों तो वे ज्ञान सम्यक्मति और

सम्यक्‌श्रुत हैं – यह धर्म है, और यही मोक्ष का कारण है।

श्री आचार्यदेव ने पहले मतिज्ञान सम्बन्धी बात की है। भगवान की दिव्यध्वनि है, वह ज्ञान नहीं है, और उसके लक्ष्य से होनेवाला मतिज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं है। शब्द, रूप, रस, गन्ध या वर्ण — सभी मतिज्ञान के विषय हैं, वे अचेतन हैं और उन शब्दादि के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान भी अचेतन है। इन्द्रियों द्वारा शब्दादि के लक्ष्य से जो मतिज्ञान होता है, वह सम्यक् मतिज्ञान नहीं है परन्तु मिथ्याज्ञान है; इसलिए वास्तव में वह अचेतन है क्योंकि वह ज्ञान, त्रिकालीस्वभाव के साथ एकता नहीं करता। त्रिकालीस्वभाव के साथ एकता करके, स्वभाव के लक्ष्य से जो मतिज्ञान होता है, वह सम्यक् मतिज्ञान है।

ज्ञानी का सम्पूर्ण ज्ञान सम्यक् और अज्ञानी का मिथ्या क्यों?

शब्द-रूपादि पाँच इन्द्रियों के विषयों को मतिज्ञान जानता है; उन शब्दादि विषयों में तो आत्मा नहीं है, उनमें ज्ञान या धर्म नहीं है परन्तु उन शब्दादि के लक्ष्य से जो बोध हुआ, उसमें भी सम्यक्‌पना नहीं है; वह ज्ञान मिथ्या है, उसमें धर्म नहीं है, उसमें आत्मा नहीं है। मिथ्यारूप मति-श्रुतज्ञानपर्याय का विषय क्या है, और सम्यक्‌रूप मति-श्रुतज्ञानपर्याय का विषय क्या है? उसका यह वर्णन है। ज्ञान की जो अवस्था स्त्री, शरीरादि अथवा देव-गुरु-शास्त्रादि परपदार्थों के ही लक्ष्य से जानने का कार्य करती है, वह अज्ञान है, मिथ्यामति -श्रुत है और जो ज्ञान, स्वभाव की एकता के लक्ष्य से जानता है, वह सम्यक्‌मति-श्रुतज्ञान है। ज्ञानी का ज्ञान जिस समय स्त्री आदि को या देव-शास्त्र-गुरु को जानता हो, उस समय भी उनका ज्ञान, त्रिकालीस्वभाव की एकता में ही ढलता है, इसलिए उन्हें

सम्यक्मति-श्रुतज्ञान है, और वह पर्याय भी प्रति समय वृद्धि को प्राप्त होती है।

अज्ञानी को मिथ्याज्ञान क्यों है? त्रिकाली ज्ञानस्वभावरूप आत्मा है, उसकी एकता को छोड़कर जो ज्ञान, परलक्ष्य से इन्द्रिय और मन से जानने का कार्य करता है, वह अज्ञान है। भगवान की वाणी का श्रवण पर-विषय है, वीतरागदेव की मूर्ति भी पर-विषय है; उसके लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान, आत्मा का स्वभाव नहीं है; इसलिए वास्तव में वह चेतन नहीं है, वह राग है, कषाय है, अचेतन है। जो परलक्ष्यी ज्ञान है, उसके विश्वास से जीव को धर्मदशा प्रगट नहीं होती।

अपने सत्स्वभाव की बात

यह अपने सत्स्वभाव की बात है। जीव ने अनन्त काल में अपने सत्स्वभाव की बात रुचिपूर्वक नहीं सुनी है और न अपने स्वभाव की सँभाल की है।

धर्म प्रगट करने की आकांक्षा किसे और उसे किस प्रकार धर्म प्रगट होता है?

सोने में एक अवस्था बदलकर दूसरी अवस्था करने की इच्छा किसे होती है? जिसे सोने के स्वभाव-सामर्थ्य की प्रतीति है कि यह सोना वर्तमान कड़ारूप अवस्था जितना ही नहीं है, परन्तु यह कड़ारूप दशा बदलकर कुण्डलरूप दशा सोने के अपने आधार से प्रगट हो और सोना स्थायी रहे — ऐसा उसका स्वभाव है। ऐसी जिसे खबर और विश्वास हो, उसे सोने की कड़ेरूप अवस्था बदलकर कुण्डलादि करने की इच्छा होती है। उसी प्रकार आत्मा में अधर्मदशा पलटकर धर्मदशा करने की आकाँक्षा किसे होती

है ? सम्पूर्ण आत्मा अधर्मरूप नहीं हो गया है परन्तु अधर्मदशा दूर करके धर्मदशारूप होने की शक्ति आत्मा में है; अधर्मदशा दूर होकर धर्मदशा प्रगट होने पर भी आत्मा ध्रुवरूप से स्थायी रहता है। अधर्म का नाश होने के साथ आत्मा का नाश नहीं हो जाता; इस प्रकार जिसे आत्मा का नित्यत्व और अधर्मदशा की क्षणिकता भासित हुई हो, उसी को अधर्मदशा का नाश करके नवीन धर्मदशा प्रगट करने की आकाँक्षा होती है। जिस जीव को इस प्रकार धर्मदशा प्रगट करने की इच्छा हुई है, उसे धर्म कैसे प्रगट होता है ? यह बात यहाँ चल रही है।

यह आत्मा ज्ञानस्वभावी त्रिकाल है, उसका ज्ञान सर्वथा कूटस्थ नहीं है परन्तु प्रति समय परिणमित होता है। उसकी परलक्ष्यी मति-श्रुतज्ञान अवस्था, जिन स्पर्श-रसादि पर-विषयों को जानती है, वे स्पर्शादि तो अचेतन हैं, उनसे ज्ञान नहीं होता।

दूसरी बात — उन स्पर्शादि परविषयों के लक्ष्य से राग कम करके जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान, चैतन्यस्वभाव में से आया हुआ नहीं है — स्वभाव के लक्ष्य से हुआ नहीं है; त्रिकालीस्वभाव के आधार से बदलकर वह ज्ञानपर्याय नहीं हुई है परन्तु राग कम होकर पर के लक्ष्य से हुई है, इसलिए वह सम्यग्ज्ञान नहीं है, उसमें आत्मा नहीं है और न वह ज्ञान, धर्म का कारण है।

तीसरी बात — परविषय या उसके लक्ष्य से होनेवाली ज्ञानदशा की प्रतीति करके बदलने से तो धर्म होता नहीं है।

जिसे धर्म करना हो, उसे त्रिकाली स्वभावशक्ति के लक्ष्य से पर्याय बदलकर, त्रिकाली ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने से स्वलक्ष्य से सम्यक् मति-श्रुतज्ञान होते हैं, वह धर्म है।

पाँच इन्द्रियों के विषय (शब्दादि) अचेतन हैं, उनसे ज्ञान होता है — ऐसा जो मान लेता है, वह अज्ञानी है। स्वभाव से च्युत होकर, पाँच इन्द्रियों के विषयों के लक्ष्य से जो मतिज्ञान होता है, वह भी अज्ञान है। अंशत: राग मन्द करके परलक्ष्य से जो ज्ञान विकसित हुआ, वह भी अज्ञान है। यदि उसी को आत्मा माने तो धर्म नहीं होता परन्तु उसका लक्ष्य छोड़कर, त्रिकालीस्वभाव की अन्तर्मुखदृष्टि करके, ज्ञानस्वभावोन्मुख होने से जो ज्ञानदशा होती है, वह सम्यक् मतिज्ञान है - यह ज्ञान, मोक्ष का कारण होता है।

सफल अवतार

अहो! यह आत्मा के स्वभाव की अपूर्व बात है। इस समय प्रमाद दूर करके आत्मा की जागृति करने का समय है। मनुष्य -जन्म पाकर भी अनेक जीवों का अधिकांश काल तो प्रमाद में चला जाता है; धर्म के नाम पर भी प्रमाद में और हँसी-मजाक में समय जाता है। यदि इस जीवन में आत्मा की जागृति करके सत्स्वभाव नहीं समझा तो अवतार व्यर्थ है और यदि अपूर्व रुचिपूर्वक आत्मा का सम्यग्ज्ञान प्रगट कर ले तो उसका अवतार निष्फल नहीं परन्तु केवलज्ञानदशा को जन्म देने के लिए उसका सफल अवतार है।

साधक को कौनसा ज्ञान मोक्ष का कारण होता है?

परपदार्थों के सन्मुख होनेवाले मति-श्रुतज्ञान को स्वभाव -सन्मुख करने के लिए यह अधिकार है। अवधि और मन:पर्ययज्ञान तो पर-विषयों को ही जानता है, उसकी यहाँ पर बात नहीं है। जो मति-श्रुतज्ञान, आत्मा के स्वभाव की ओर ढले, वह मोक्ष का कारण होता है। साधकजीव को क्षायिकज्ञान का तो अभाव है

परन्तु स्वभावोन्मुख हुआ उनका ज्ञान, क्षायोपशमिकभावरूप होने पर भी, वह विशिष्ट भेदज्ञानरूप सम्यक्मति-श्रुतज्ञान, मोक्ष का कारण होता है। स्वभाव के ओर की विचारश्रेणी में ज्ञानियों को अन्तर में जो सहज न्याय प्रगट होते हैं, वे यथार्थ होते हैं और वे ही न्याय शास्त्रों में से भी निकल आते हैं।

स्वभाव की महिमा ही शान्ति का उपाय

धर्मात्मा जीव, आत्मा के स्वभाव को कैसा जानता है ? — उसकी यह बात चल रही है। जिसे धर्म करना हो, उसे अपने ज्ञान में आत्मा का यथार्थ मूल्यांकन करना होगा। ज्ञान में जिसकी महिमा लगे, उसमें ज्ञान एकाग्र होता है। यदि पर की महिमा करके ज्ञान वहाँ एकाग्र हो तो वह अधर्म है और आत्मा की महिमा समझकर वहाँ ज्ञान एकाग्र हो तो वह धर्म है। जिस प्रकार जिन जीवों को विषयों में या लक्ष्मी आदि में सुखबुद्धि हुई है, वे वहाँ एकाग्र होते हैं — जीवन को जोखिम में डालकर भी वे विषयों में कूद पड़ते हैं क्योंकि उन्हें ज्ञान में उनकी महिमा भासित हुई है; उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव अनन्त सुखस्वरूप है, पर से भिन्न है; उस स्वभाव की महिमा यदि ज्ञान में आये तो सबकी दरकार छोड़कर, ज्ञान अपने स्वभाव में स्थिर हो और सच्ची शान्ति प्रगट हो, इसका नाम धर्म है परन्तु यदि ज्ञान में ज्ञात होनेवाले शब्दादि पदार्थ या उन्हें जाननेवाले आत्मबोध जितना ही आत्मा का मूल्यांकन करे तो वह ज्ञान, पर-विषयों में और पर्यायबुद्धि में ही रुक जाएगा परन्तु वहाँ से हटकर पूर्णस्वभाव की ओर नहीं बढ़ेगा और शान्ति प्रगट नहीं होगी।

हे भव्य! तुझे आत्मा की शान्ति प्रगट करना है तो वह शान्ति

परवस्तु में से नहीं आयेगी, परवस्तुओं के सम्मुख देखने से नहीं आयेगी, विकार या क्षणिक पर्याय के सन्मुख देखने से भी वह शान्ति नहीं आयेगी परन्तु उन सबके लक्ष्य को छोड़कर, अपनी वर्तमान अवस्था को त्रिकाली ज्ञानस्वभाव में एकाकार करे, तो त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से अवस्था में परिपूर्ण शान्ति प्रगट होगी।

भेदज्ञान से ही भव का अन्त

शब्दादि विषयों में किंचित् ज्ञान नहीं है; इसलिए उनसे तो आत्मा बिल्कुल पृथक् ही है और आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान है — आत्मा और ज्ञान किंचित् भिन्न नहीं हैं — ऐसा भेदज्ञान करके स्वभावोन्मुख हो तो स्वभाव के आश्रय से जीव को सम्यक्मति -श्रुतज्ञान प्रगट हो और अल्प काल में भव का अन्त आये। इसके अतिरिक्त जो मति-श्रुतज्ञान, परलक्ष्य से ही कार्य करे, वह मिथ्याज्ञान है। कोई जीव, स्वलक्ष्य से सम्यग्ज्ञान प्रगट किए बिना कषाय कम करे तो उसे पापानुबन्धी पुण्य का बन्ध होता है और साथ ही साथ उसी समय, सम्पूर्ण आत्मस्वभाव के अनादररूप मिथ्यात्व से अनन्त पापबन्ध होता है और अनन्त भव बढ़ते हैं।

चेतनस्वभाव के साथ जिसकी एकता नहीं है वह ज्ञान अचेतन है

त्रिकाली आत्मस्वभाव को भूलकर वर्तमान जितने पर का अथवा उसे जाननेवाले क्षणिक ज्ञान का ही मूल्य भासित हो और उसी को आत्मा का स्वरूप माने, उस ज्ञान को आचार्यदेव 'आत्मा' नहीं कहते परन्तु 'जड़' कहते हैं। जो ज्ञान, चेतनस्वभाव के साथ एकता न करे और पर में एकता करे, उसे चेतन नहीं कहते, अपितु अचेतन कहते हैं। त्रिकालीस्वभाव में ढलने से जो ज्ञान प्रगट हो

और स्वभाव में अभेद हो, वह चेतन है, वही आत्मा है। ज्ञान की जो अवस्था त्रिकाली चैतन्य में अभेदता को प्राप्त हुई, वह चेतन है, सम्यग्ज्ञान है परन्तु जो ज्ञान, मात्र पर को जानने में ही रुका है, वह मिथ्याज्ञान है, उसे यहाँ पर अचेतन कहते हैं क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। यदि वर्तमान वर्तती अवस्था स्थायी ज्ञानस्वभाव के साथ एकता को प्राप्त न हो और दया, उपदेश -श्रवण आदि के राग में ही रुकी रहे तो चैतन्य के परिणमन के त्रिकाली प्रवाह में भेद पड़ता है, द्रव्य-पर्याय में भेद पड़ता है, इसलिए वह अवस्था मिथ्याज्ञानरूप है।

किसे प्रगट होता है आत्मा का पूर्णानन्द ?

जिस प्रकार सोने की एक अवस्था बदलकर दूसरी नवीन अवस्था सोने के अपने आधार से होगी, और सोना ज्यों का त्यों ही रहेगा, सोने का नाश नहीं होता; इस प्रकार स्थायी सोने का और उसके आधार से प्रगट होनेवाली नवीन दशा का जिसे विश्वास हो, उसी को एक गहना बदलवाकर दूसरा गहना बनवाने की इच्छा होती है। उसी प्रकार जिसे त्रिकाली पूर्ण आत्मस्वभाव का ज्ञान में विश्वास है और उस स्वभाव के आश्रय से ही नवीन -नवीन निर्मल -दशाएँ प्रगट होती हैं — ऐसा विश्वास है, उस जीव को अशुद्धदशा दूर करके निर्मलदशा प्रगट करने की आकाँक्षा होती है, अर्थात् जिसका ज्ञान त्रिकालीस्वभाव की ओर उन्मुख हुआ है, उसी को निर्मलपर्याय प्रगट करने का पुरुषार्थ होता है।

मेरा आनन्द या शान्ति कहीं बाह्य में तो नहीं है, इसलिए यदि मेरा ज्ञान बाह्य विषयों में फिरता रहे तो उस ज्ञान में भी शान्ति नहीं है; मेरा त्रिकालीस्वभाव ही ज्ञान और शान्ति का भण्डार है; इसलिए

यदि अपने ज्ञान को स्वभाव में एकाग्र करूँ तो उस स्वभाव में से ही आनन्द और शान्ति का अनुभव हो; इस प्रकार अन्तर्मुख होकर अपने स्वभाव का विश्वास करे तो आत्मा में निर्मलता प्रगट करने की इच्छा (पुरुषार्थ) हो; इससे आत्मा की रुचि -शान्ति-सम्यक्त्व-सम्यग्ज्ञान-सम्यक् चारित्र-केवलज्ञानादि शुद्धदशाएँ क्रमश: प्रगट हों।

प्रथम रुचि और प्रतीति में आत्मस्वभाव का विश्वास करके मति-श्रुतज्ञान को, उस स्वभाव की ओर उन्मुख करने से सुख का अंश प्रगट होता है, विकार का अंश दूर होता है। पहले अनन्त परद्रव्यों में एकता करके जो ज्ञान रुकता था, वह ज्ञान अब अनन्त गुण से परिपूर्ण आत्मस्वभाव की महिमा में लीन हुआ, इससे अनन्त विकार दूर होकर अनन्त शान्ति प्रगट हुई, अपूर्व आत्मधर्म प्रगट हुआ। अब क्रमश: उस ज्ञानस्वभाव में पूर्ण लीन होने से पूर्ण आनन्द प्रगट होगा।

मति-श्रुतज्ञान को स्वभावसन्मुख करना ही मुक्ति का उपाय

धर्म करनेवाले जीव को वर्तमान अवस्था बदलकर नवीन शुद्धदशा प्रगट करना है, वह अवस्था कहाँ से आती है? जिसमें शाक्तिरूप विद्यमान हो, उसमें से अवस्था प्रगट होती है। त्रिकाली -स्वभाव, शुद्धता का भण्डार है, उसकी श्रद्धा करके एकाग्र हो तो पर्याय में शुद्धता प्रगट हो, परन्तु यदि त्रिकाली सामर्थ्य का विश्वास न करे और भगवान के लक्ष्य से होनेवाले राग जितना या दयादि भावों जितना ही आत्मा को माने, अथवा राग कम होकर परलक्ष्य से जो ज्ञान का विकास हुआ है, उस ज्ञान जितना आत्मा को माने तो उसके आधार से ज्ञान की शुद्धता प्रगट नहीं होगी; इससे उस

जीव को मिथ्यामति-श्रुतज्ञान ही रहेंगे। यदि पूर्णस्वभाव का विश्वास करके उसके आधार से ज्ञान परिणमित हो तो सम्यक्मति-श्रुतज्ञान हो, वह मोक्ष का कारण है। केवलज्ञान तो साधकदशा में होता नहीं है, अवधि-मन:पर्यय ज्ञान का विषय मूर्त पदार्थ हैं, वे ज्ञानस्वभाव की ओर नहीं ढलते; इस कारण वे मोक्ष के कारण नहीं हैं। इस समय तो स्वभाव की ओर ढलते हुए सम्यक्मति-श्रुतज्ञान, मोक्ष के कारण हैं, इसलिए इन पन्द्रह गाथाओं में परसन्मुख होनेवाले मति-श्रुतज्ञान को वहाँ से हटाकर स्वभावसन्मुख करने की रीति, आचार्य भगवान ने समझायी है।

भेदविज्ञान प्रगट होने से पहले की पात्रता

इस जगत में सर्वज्ञदेव हैं, उनकी वाणी है, श्रुत है, इस जीव को अपूर्णज्ञान है, परलक्ष्य से श्रवणादि है, उसमें इन्द्रिय-मन निमित्तरूप है, राग है; इस प्रकार सभी के अस्तित्व का स्वीकार तो इसमें आ ही जाता है। जिसे अभी यह बात भी न बैठे और 'सब मिलकर एक आत्मा है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब सर्वथा असत् है' — ऐसा मानता है, उस जीव को तो तीव्र अज्ञान है। ऐसे जीव को तो भेदविज्ञान प्रगट करने की पात्रता ही नहीं है। इस जगत में पृथक्-पृथक् अनन्त आत्माएँ हैं और जड़ वस्तुएँ भी हैं, उन प्रत्येक में अनन्त गुण हैं, उनमें प्रति समय परिणमन होता है। आत्मा के ज्ञान की मति-श्रुतादि अवस्थाएँ होती हैं, उनमें सम्यक् और मिथ्या दो प्रकार हैं। पूर्णज्ञान प्रगट करनेवाले देव हैं, उस पूर्ण ज्ञान के साधक गुरु हैं, उनकी वाणीरूप श्रुत है। इस प्रकार सब जानकर, मिथ्या देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा-बहुमान छोड़कर, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा-बहुमान करे, तब तो अभी निमित्तों का

विवेक किया, राग की दिशा बदली है, तथापि अभी तक परलक्ष्यी मिथ्याज्ञान है। यदि अपने ज्ञानस्वभाव की ओर ढलकर, निमित्तों की ओर के राग का और परलक्ष्यी ज्ञान का निषेध करे तो अपूर्व भेदविज्ञान प्रगट होता है और देव-गुरु-शास्त्र की ओर के राग को व्यवहार कहा जाता है।

वास्तव में व्यवहार कब होता है ?

धर्म का प्रारम्भ कैसे हो ? — उसकी यह बात है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, धर्म के निमित्त है। उन निमित्तों को पहचान कर, कुदेवादि मिथ्यात्व के निमित्तों की मान्यता छोड़नेवाले जीव को देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष्य से जो मति-श्रुत-ज्ञान हो, वह भी अभी मिथ्यामति-श्रुत है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को स्वीकार किया, उसने अभी तो व्यवहार से व्यवहार को माना है। निश्चयस्वभाव के भानसहित जो व्यवहार हो, वही सच्चा व्यवहार है परन्तु निश्चयस्वभाव के भानरहित व्यवहार, वास्तव में व्यवहार नहीं किन्तु व्यवहार से व्यवहार है। यदि त्रिकालस्वभाव की प्रतीति प्रगट करके उस व्यवहार का निषेध करे तो, जिसका निषेध किया उसे निश्चयपूर्वक का व्यवहार कहा जाता है; और स्वभाव के भानपूर्वक उसे जाने तो वह ज्ञान में व्यवहारनय है परन्तु राग को ही आदरणीय माने अथवा मात्र राग के लक्ष्य से ही उसे जाने तो वह ज्ञान, मिथ्याज्ञान है, उसे व्यवहार भी नहीं कहा जाता।

भगवान होने की रीति

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, दया-भक्ति इत्यादि शुभपरिणाम तथा द्रव्य-गुण-पर्याय की या नव तत्त्व की भेद से श्रद्धा, वह सब व्यवहार है और उसकी ओर ढलनेवाला ज्ञान, मिथ्याज्ञान है। वह

व्यवहार और उस ओर झुकनेवाला ज्ञान, मेरा स्वरूप नहीं है; एकरूप ज्ञायकस्वभाव है, वह मैं हूँ — इस प्रकार मति-श्रुतज्ञान को स्वभाव में झुकाकर व्यवहार से पृथक् हो और स्वभाव में एकता करे, तब प्रमाणज्ञान होता है और उस जीव के मति-श्रुतज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है। यह मति-श्रुतज्ञान भी अतीन्द्रिय है, वह केवलज्ञान का कारण है। यह आत्मा स्वयं भगवान कैसे होता है? उसकी यह रीति है।

वाणी या विकल्पगम्य नहीं है; ज्ञानगम्य है वस्तुस्वभाव

जैसा वस्तु का स्वभाव है, वैसा ज्ञान में जानने में देर नहीं लगती परन्तु विकल्प से जानने में या वाणी द्वारा कहने में देर लगती है। वाणी से कहने में जितनी देर लगती है, उतनी देर ज्ञान से समझने में नहीं लगती क्योंकि वस्तुस्वभाव, वाणी या विकल्पगम्य नहीं है परन्तु ज्ञानगम्य है।

जिस प्रकार लड्डू तैयार करने में देर लगती है, परन्तु लड्डू का स्वाद लेने में देर नहीं लगती; उसी प्रकार पहले विकल्प से चैतन्यस्वभाव समझने में देर लगती है, परन्तु स्वभावोन्मुख होकर, विकल्प तोड़कर श्रुतज्ञान से अनुभव करने में देर नहीं लगती; इसलिए वाणी और विकल्प का लक्ष्य / आश्रय छोड़कर, मति-श्रुतज्ञान को स्वभावसन्मुख करना, वह आत्मा के अनुभव का उपाय है, और वही धर्म है। त्रिकाल चैतन्यस्वभाव है, वह आत्मा है; मति-श्रुतज्ञान जितना आत्मा नहीं है – ऐसा समझकर, पर्यायदृष्टि छोड़कर अन्तर्स्वभाव में जो मति-श्रुतज्ञान झुकता है; उस ज्ञान को यहाँ आत्मा कहा है क्योंकि वह ज्ञान, आत्मा के साथ अभेद होता है। स्वभावोन्मुख होने से श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता

प्रति समय बढ़ती जाती है, उसका वर्णन इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में है।

शब्द, ज्ञान नहीं है; स्पर्श, ज्ञान नहीं है, इस प्रकार पाँच इन्द्रियों के जो विषय हैं, वे ज्ञान नहीं हैं, और उन शब्दादि विषयों के अवलम्बन से जो ज्ञान होता है, वह आत्मा नहीं किन्तु अचेतन है, अर्थात् परलक्ष्य से होनेवाला जो मतिज्ञान है, वह मिथ्याज्ञान है; इस प्रकार मतिज्ञान की बात की है। अब, श्रुतज्ञान सम्बन्धी बात करते हैं। ●●

ऐसी सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है

अरे! सम्पूर्ण जीवन विषय-कषाय में बिताया, शरीर की सेवा में जीवन बिताया और आत्मा की दरकार किये बिना जीवन को धूलधानी कर दिया; तथापि यदि वर्तमान में उस रुचि को बदलकर आत्मा की रुचि करे तो यह समझा जा सकता है और अपूर्व कल्याण होता है। आठ-आठ वर्ष की सम्यग्दृष्टि कुँवरियाँ / लड़कियाँ भी अपने पूर्ण आत्मा को ऐसा मानती हैं कि अहो! हम तो चैतन्य हैं, अपने आत्मा को सिद्ध भगवान से किञ्चित् भी कम मानना हमको नहीं पोषाता; हम तो अपने आत्मा को परिपूर्ण ही स्वीकार करते हैं। अन्तर स्वभाव के अवलोकन तरफ झुकने पर आठ वर्ष की बालिका को भी ऐसा आत्मभान होता है; इसलिए हमें यह नहीं समझ में आ सकता — ऐसा नहीं मानना चाहिए। समस्त आत्माएँ चैतन्यस्वरूप हैं और पूरा-पूरा समझ सके — ऐसी सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

कर्म से ज्ञान का भिन्नत्व

कर्म, ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और कर्म व्यतिरेक है।

'कर्म, ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान का और कर्म का व्यतिरेक है।' कर्म, सूक्ष्म पदार्थ है, वह इन्द्रियों का विषय नहीं है; इसलिए इन्द्रिय-मतिज्ञान से वह ज्ञात नहीं होता, परन्तु मन द्वारा होनेवाले मतिपूर्वक श्रुतज्ञान से वह ज्ञात होता है।

ज्ञान किसे कहा जाये?

कर्म तो अचेतन हैं, उनमें ज्ञान नहीं है; और उन अचेतन कर्मों के लक्ष्य से जो ज्ञान होता है, वह भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। यहाँ आचार्य भगवान ऐसा समझाते हैं कि शब्द, रूप तथा कर्म आदि परपदार्थों के लक्ष्य से ज्ञान का जो विकास होता है अथवा मन्दकषाय होती है, वे दोनों आत्मा नहीं हैं — ज्ञान नहीं हैं, किन्तु अचेतन हैं; उनसे धर्म नहीं होता। त्रिकाल आत्मस्वभाव के साथ एकता करके जो ज्ञान अवस्था प्रगट हो, वही सच्चा ज्ञान है, उससे धर्म होता है।

आत्मा में क्रोधादि विकार होता है, वे क्रोधादि आत्मा का स्वभाव नहीं है; इसलिए उन भावों में कोई अन्य पदार्थ निमित्तरूप होता है; वह पदार्थ कर्म है; इस प्रकार युक्ति से और आगम के

कथन से श्रुतज्ञान द्वारा कर्मों को मानना चाहिए। जो कर्मादि का अस्तित्व ही नहीं मानते, उन जीवों की यहाँ बात नहीं है, किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा का आश्रय छोड़कर जो ज्ञान, कर्म को जानने में रुकता है, वह अचेतन है। कर्म के लक्ष्य से जो कर्म को जानने का विकास हुआ, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। कर्म मुझे बाधक होते हैं — ऐसा जिसने माना है, उसका कर्म को जाननेवाला ज्ञान, अचेतन है।

मोक्ष का कारण कर्म का नहीं, आत्मस्वभाव का ज्ञान है

अज्ञानी कहते हैं कि पहले आत्मा का नहीं, किन्तु कर्म का ज्ञान करना चाहिए। यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि कर्म के ज्ञान से धर्म का माप नहीं है, कर्म को जानने से धर्म नहीं होता। मन्दकषाय से कर्म के लक्ष्य से जो ज्ञान हो, वह भी मिथ्याश्रुतज्ञान है, इसलिए अचेतन है। कर्म को तथा उसका कथन करनेवाले केवली भगवान को, गुरु को और शास्त्र को माने, वहाँ तक भी मिथ्याश्रुत है, क्योंकि उस ज्ञान ने पर का आश्रय किया है; उस ज्ञान ने स्वभाव में एकता नहीं की है परन्तु राग में और पर में एकता की है। स्वभाव में एकता नहीं है, परन्तु विकार में एकता है; इसलिए क्रमशः विकार बढ़कर वह ज्ञान अत्यन्त हीन होकर निगोददशा होगी, परन्तु वह ज्ञान, आत्मा में एकता करके केवलज्ञान की ओर नहीं ढलेगा। पूर्ण चैतन्यस्वभाव का आश्रय करके जो श्रुतज्ञान होता है, वह आत्मा में एकता करके, क्रमशः वृद्धि प्राप्त कर केवलज्ञान प्रगट करता है।

आठों प्रकार के कर्म अचेतन हैं, और उस अचेतन के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान भी अचेतन है। आत्मा परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव है,

उसके द्रव्य-गुण तो त्रिकाल एकरूप हैं, उसमें कर्म की अपेक्षा नहीं है परन्तु वर्तमान पर्याय में एक समयपर्यन्त का विकार है, उसमें कर्म निमित्तरूप है, इसलिए विकार का और कर्म का एक समयमात्र का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

जिस प्रकार सोने के साथ हथौड़ी का सम्बन्ध नहीं है; हथौड़ी कहीं सोने को उत्पन्न करने में निमित्त नहीं है, परन्तु सोने की अवस्था (आकार) होती है, उसमें वह निमित्तरूप है। निश्चय से तो उस आकार का कारण सोना ही है परन्तु व्यवहार से उस आकार और हथौड़ी का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; उसी प्रकार आत्मा में त्रिकाली द्रव्य-गुण के साथ कर्म का सम्बन्ध नहीं है परन्तु वर्तमान अवस्था के साथ ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है — ऐसा जानना चाहिए, किन्तु यदि कर्म का लक्ष्य रखकर ही ऐसा जाने तो सम्यक् श्रुतज्ञान, अर्थात् धर्म नहीं होता।

त्रिकाली चैतन्यस्वभाव, कर्म से और राग से भिन्न है; क्षणिक पर्याय जितना भी नहीं है — ऐसा जानकर, उस स्वभाव के साथ एकता करने से जो ज्ञान हो, वह सम्यग्ज्ञान है। वह ज्ञान, कर्म को जानते समय अपने ज्ञानस्वभाव के साथ एकता रखकर जानता है, इससे उस समय भी उसे शुद्धता की ही वृद्धि होती है; इसका नाम धर्म है। ऐसा स्वभावोन्मुख होता हुआ ज्ञान ही इस आत्मा को मुक्ति का कारण है; उस ज्ञान से ही यह आत्मा स्वयं भगवान / परमात्मा होता है।

विवेक

अहो! एक मक्खी भी मिश्री और फिटकरी के स्वाद का विवेक करके, फिटकरी को छोड़ती है और मिश्री का स्वाद लेने

के लिए चिपकती है; तो फिर जिसे अपना कल्याण करना है, ऐसे जीव को अपना त्रिकाली स्वभाव क्या है और विकार क्या है ? — इसका भलीभाँति विवेक करना चाहिए। त्रिकालीस्वभाव के लक्ष्य से शान्ति होती है और क्षणिक पर्याय के लक्ष्य से आकुलता होती है; इस प्रकार उन दोनों का भेद जानकर, यदि पर्याय से हटकर त्रिकालीस्वभाव की ओर श्रुतज्ञान उन्मुख हो तो स्वभाव के आनन्द का स्वाद आये और चाहे जैसे प्रतिकूल संयोग के समय भी वह ज्ञान, स्वभाव की एकता को न छोड़े।

कौन-सा ज्ञान आत्मा के साथ अभेद होता है ?

कर्म, अचेतन है; उसमें ज्ञान नहीं है, वह कुछ जानता नहीं है; उस कर्म के लक्ष्य से जो पुण्य-पाप हो अथवा जो ज्ञान हो, उस ज्ञान की एकता, आत्मा के साथ नहीं है परन्तु कर्म के साथ है — इस कारण वह मिथ्या है, अचेतन है; उसका और आत्मस्वभाव का भिन्नत्व है।

अहो! आचार्यदेव कहते हैं कि त्रिकाल चैतन्यस्वभाव में ढलते हुए तथा परलक्ष्य की ओर ढलते हुए ज्ञान में भिन्नता है; दोनों ज्ञानधाराएँ पृथक् हैं। जो ज्ञान, पर का विचार छोड़कर, स्वभाव के ओर की एकता करता है, वह आत्मा के साथ अभेद है, वह सम्यग्ज्ञान है; उस ज्ञान को यहाँ आत्मा ही कहा है। ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रगट होने के पश्चात् भी, ज्ञान का जो अंश परोन्मुख होता है, उसे और स्वभावोन्मुख होते हुए ज्ञान को व्यतिरेक है — भिन्नता है। जिस धर्मात्मा को ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ है, उसे प्रति समय स्व के ओर की ज्ञानधारा बढ़ती जाती है और पर के ओर की ज्ञानधारा घटती जाती है; जब कर्म को जानता हो, उस समय भी

उसे स्वभाव में ज्ञान की उन्मुखता बढ़ती जाती है और परोन्मुखता कम होती जाती है।

अधर्म और धर्म

अभी जिसके सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है, वह तो तीव्र अधर्मी है। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि जिसने तीव्र अधर्मरूप गृहीतमिथ्यात्व को तो छोड़ दिया है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को ही मानता है, तथा श्रुतज्ञान के तर्क को कर्म की ओर ढलकर ज्ञान को वहीं स्थिर कर दिया है, किन्तु वहाँ से हटाकर स्वभाव की ओर नहीं झुकता वह जीव, मिथ्याश्रुतज्ञानी है, अधर्मी है, उसके ज्ञान को हम अचेतन कहते हैं। चैतन्य-स्वभावोन्मुख होने से जो ज्ञान होता है, वह चैतन्यस्वरूप में स्थिर होता है, उसे हम चेतन कहते हैं; वही धर्म है।

प्रथम पूर्ण ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करके, उसमें ज्ञान की एकता करके, पश्चात् उसी के आश्रय से पूर्णतया परिणमित होने से जिसे पूर्ण ज्ञानदशा प्रगट हुई है, वे देव हैं; स्वभाव की श्रद्धा -ज्ञान करके पूर्णता की ओर ढले हुए हैं, वे गुरु हैं; और पूर्णता का उपाय बतलानेवाली उसकी वाणी, शास्त्र है। ऐसे देव-शास्त्र -गुरु की ओर का लक्ष्य करके जो पराश्रय की श्रद्धा में रुका है, वह भी मिथ्याज्ञानी है क्योंकि उसकी बुद्धि चैतन्य की ओर नहीं है; और जो कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को सत्य मानता है, उसे तो आत्मा के धर्म की पात्रता ही नहीं है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का विवेक करके, स्व-पर का यथार्थ भेदज्ञान करे, उसी को धर्म होता है। परोन्मुखता से हटकर, स्वभावोन्मुख होकर, स्वभाव में ज्ञान की एकता करने के पश्चात् वह धर्मी जीव, पर को जाने, उस समय

भी उसे सर्व सम्यग्ज्ञान ही है। पर को जानते समय भी, स्वभाव के आश्रय से ज्ञान की एकता बढ़ती जाती है क्योंकि उस समय भी स्वभाव की एकता छोड़कर ज्ञान नहीं जानता।

निश्चय और व्यवहार का सच्चा ज्ञान कब?

मति-श्रुतज्ञान को स्वभावोन्मुख करके द्रव्य में एकता करे, वह निश्चय है, और स्वभाव की एकतापूर्वक सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति, व्यवहार है। व्यवहार को जानने से जो ज्ञान व्यवहार में ही रुका रहे, वह ज्ञान, व्यवहार से पृथक् नहीं हुआ है, अर्थात् उसने निश्चय और व्यवहार को पृथक् नहीं जाना है; इसलिए वहाँ व्यवहार भी सच्चा नहीं होता है। ज्ञान, व्यवहार को जानता अवश्य है परन्तु व्यवहारज्ञान जितना आत्मा नहीं है — ऐसा समझकर, व्यवहार से पृथक् होकर, अखण्ड ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख हो, तब श्रुतज्ञान प्रमाण होता है और तभी निश्चय-व्यवहार दोनों का सच्चा ज्ञान होता है।

जीव का जो श्रुतज्ञान, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को जाने, उस श्रुतज्ञान जितना ही जो आत्मा को मानता है और उसी पर ध्यान रखा करता है परन्तु त्रिकाली ज्ञानस्वभाव की ओर न ढलता तो वह श्रुतज्ञान मिथ्या है। उसे निश्चय और व्यवहार पृथक् नहीं रहे, किन्तु क्षणिक को ही त्रिकालीरूप मान लिया, अर्थात् व्यवहार को ही निश्चय मान लिया, उसे निश्चय-व्यवहार का सच्चा ज्ञान नहीं है। त्रिकालीस्वभाव का आश्रय करके जो ज्ञान ऐसा स्वीकार करता है कि 'इन देव-शास्त्र-गुरु से मैं पृथक् हूँ और इन्हें जाननेवाला जो क्षणिक ज्ञान है, उतना भी मैं नहीं हूँ' तो वह सम्यग्ज्ञान है और उसे त्रिकालीस्वभाव का तथा वर्तमान पर्याय का, अर्थात् निश्चय-व्यवहार का सच्चा ज्ञान है।

ज्ञान की क्रिया ही धर्म

यह धर्म की बात है। इसमें अकेले ज्ञान की क्रिया की बात है। आत्मा, शरीरादि से तो भिन्न ही वस्तु है; इसलिए आत्मा के धर्म में शरीर की क्रिया, कारणरूप नहीं है; शरीर की क्रिया के साथ आत्मा के धर्म का या अधर्म का सम्बन्ध नहीं है परन्तु ज्ञान की क्रिया में धर्म-अधर्म है। अपने पूर्ण ज्ञानस्वभाव को स्वीकार करके उसके आश्रय से ज्ञान की जो क्रिया होती है, वह धर्म है और स्वभाव को भूलकर, क्षणिक ज्ञान जितना ही अपने को मानकर, पर के आश्रय से ज्ञान की जो क्रिया होती है, वह अधर्म है। अनादि से मति-श्रुतज्ञान, पर के लक्ष्य से कार्य कर रहे हैं, इससे संसारपरिभ्रमण है, उस ज्ञान को चेतनस्वभाव के लक्ष्य से स्वभावोन्मुख करना, वह अपूर्व धर्म है और वह मुक्ति का कारण है।

समयसार २३४ वें कलश में कहा था कि परपदार्थों को जानने से उनके साथ एकत्व की मान्यता से अनेक प्रकार की विकारी क्रिया उत्पन्न होती थी, वह अधर्म था अथवा पर को जानने जितना ही मेरा ज्ञान है — ऐसा मानना भी पर में एकत्वबुद्धि ही है और वह अधर्म है। यहाँ से अब (इन पन्द्रह गाथाओं द्वारा कहा तद्नुसार) समस्त वस्तुओं से भिन्न किया गया ज्ञान, अर्थात् समस्त परद्रव्यों से भिन्न चेतनस्वभाव को जानकर, उस स्वभाव में ढला हुआ ज्ञान अनेक प्रकार की अधर्मक्रियाओं से रहित है और एक ज्ञानक्रियामात्र है, अनाकुल है और दैदीप्यमान वर्तता हुआ स्वभाव में लीन रहता है-यही धर्म है। अभी तक जो अनन्त जीव, संसार से पार होकर सिद्ध हुए हैं, वे सब ऐसी स्वसन्मुख ज्ञानक्रिया के प्रताप से ही पार हुए है; वर्तमान में जो जीव पार हो रहे हैं, वे इस क्रिया के प्रताप से

ही पार हो रहे हैं और भविष्य में जो जीव पार होंगे, वे भी इसी ज्ञानक्रिया के प्रताप से ही पार होंगे।

ज्ञान और कर्म का भेदज्ञान

कर्म और ज्ञान भिन्न हैं। ज्ञान, आत्मा के साथ एकमेक है और कर्म से पृथक् है; वास्तव में कर्म और कर्म की ओर ढलता हुआ ज्ञान — वे दोनों आत्मा से पृथक् हैं और आत्मा की ओर ढलता हुआ ज्ञान भी उन दोनों से पृथक् है। इस प्रकार कर्म और उस ओर ढलते हुए ज्ञान से पृथक् होकर स्वभाव को जाने तो ज्ञान और कर्म का भेदज्ञान हो। ऐसे भेदज्ञानपूर्वक कर्म को जाना, वह ज्ञान सच्चा कहलाता है, वरना कर्म का ज्ञान भी सच्चा नहीं कहलाता।

अन्तरमंथन करने योग्य अद्‌भुत रहस्य

निश्चय और व्यवहार भिन्न हैं; इसलिए निश्चय की ओर ढलता हुआ ज्ञान, व्यवहार की ओर ढलते हुए ज्ञान से पृथक् है। निश्चय और व्यवहार दोनों का ज्ञान, साधकजीव को होता है परन्तु स्वभाव के आश्रय से प्रतिक्षण निश्चयनय बढ़ता जाता है और व्यवहारनय दूर होता जाता है, अर्थात् स्वभाव की एकता की ओर ज्ञान की उन्मुखता बढ़ती जाती है और पर की ओर की ज्ञान की उन्मुखता दूर होती जाती है। इस प्रकार क्रमश: स्वभाव में सम्पूर्णत: एकता होने से व्यवहार सम्पूर्ण दूर हो जाता है और केवलज्ञान होता है। स्वभावोन्मुख ज्ञान ही आत्मा है, वही ज्ञान सम्यक्त्व है, वही चारित्र है, वही सुख है। ज्ञान, आत्मा में अभेद होने से द्रव्य-पर्याय का भेद नहीं रहा; इसलिए वह ज्ञान ही आत्मा का सर्वस्व है।

अहो! आचार्य भगवान ने आत्मा के अन्तर्स्वभाव का रहस्य बतलाया है। इस रहस्य को समझकर अन्तरमंथन करनेयोग्य है।

मात्र ऊपर-ऊपर से सुन ही नहीं लेना चाहिए, परन्तु भलीभाँति धारण करके, अन्तर में स्वयं विचार करना चाहिए।

जिज्ञासुओं का महाभाग्य!

पर की ओर के श्रुतज्ञान को स्वभावोन्मुख करना ही इन गाथाओं का प्रयोजन है। आचार्यदेव क्रमशः सूक्ष्म बात लेते जाते हैं। प्रथम शब्दादि पदार्थों से ज्ञान को भिन्न बतलाया है, फिर कर्म से भिन्न बतलाया है; इस प्रकार रूपी पदार्थों की बात पूर्ण हुई।

अब, चार अरूपी द्रव्य हैं, उनसे ज्ञान का पृथक्त्व बतलाते हैं। पश्चात् अन्तर में जो सूक्ष्म अध्यवसान के भाव होते हैं, उनसे भी पृथक् बतलायेंगे। इस प्रकार सबसे भिन्न बतलाकर अन्त में 'ज्ञान और आत्मा एकमेक हैं, उनमें किञ्चित् पृथक्त्व की शङ्का नहीं करना चाहिए' — ऐसा बतलाकर अपूर्व स्वभाव की बात करेंगे। जिज्ञासु जीवों के महाभाग्य से यह अपूर्व बात आयी है। जो जीव यह बात समझेगा, उसका अविनाशी कल्याण हो जाएगा। ●●

समझ में आ सके – इतनी सरल भी है

क्षणिक विकार को अपना मानकर, आत्मस्वभाव का अनादर करना ही भावमरण है/मृत्यु है। इस भावमरण का अभाव, अमर आत्मस्वभाव की पहचान से होता है। इसलिए हे भाई! यदि तुझे भव-दुःखों का भय हो तो आत्मा को समझने की प्रीति कर! जन्म-मरण के अन्त की बात अपूर्व है, मूल्यवान् है और जिसे समझने की धगश जागृत होती है, उसे समझ में आ सके – इतनी सरल भी है। *– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

धर्मद्रव्य से ज्ञान का भिन्नत्व

धर्म (धर्मद्रव्य), ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म, अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और धर्म के व्यतिरेक है।

मिथ्याज्ञान दूर होकर सम्यग्ज्ञान कैसे होता है ?

इस जगत में सम्पूर्ण लोकव्यापक एक धर्मास्तिकाय नाम का अरूपी द्रव्य, सर्वज्ञ भगवान ने प्रत्यक्ष देखा है और शास्त्रों में उसका वर्णन है; उस धर्मद्रव्य को जो जीव स्वीकार नहीं करता, वह तो गृहीतमिथ्यादृष्टि है; उसे तो देव-शास्त्र-गुरु की भी श्रद्धा नहीं है और जो जीव, धर्मद्रव्य के लक्ष्य से ही उसका ज्ञान करता है, वह जीव, अगृहीतमिथ्यादृष्टि है।

आत्मा पूर्ण चैतन्यमय है, और धर्मद्रव्य तो अचेतन है, उसमें किञ्चित् ज्ञान नहीं है। उस अचेतन के आश्रय से जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान को भी यहाँ अचेतन सिद्ध किया है क्योंकि वह ज्ञान, चैतन्य के विकास को रोकनेवाला है। स्वभाव का आश्रय करके जो ज्ञान प्रगट हो, वह चेतनस्वभाव में मिलता है, इसलिए चेतन है और वह केवलज्ञान का कारण है। आत्मस्वभाव के ओर की उन्मुखता करनेवाला ज्ञान और धर्मास्तिकाय आदि परोन्मुखतावाला ज्ञान – दोनों पृथक् हैं। स्वभाव की ओर का ज्ञान तो मोक्ष का साधक है तथा पर की ओर का ज्ञान, रागवाला होने से बाधक है;

इसलिए वह अचेतन है। त्रिकालीस्वभाव की ओर उन्मुख होकर चैतन्य में एकता करनेवाला ज्ञान, चैतन्यरूप है और मोक्षार्थी जीवों को यही करना है।

अनादि का मिथ्याज्ञान दूर होकर सम्यक् मति-श्रुतज्ञान कैसे प्रगट होता है ? उसकी यह रीति है। इसमें निश्चय-व्यवहार का स्पष्टीकरण भी आ जाता है। निश्चय के आश्रय से सम्यग्ज्ञान होता है और पर्याय के आश्रय से, राग के आश्रय से अथवा परद्रव्य के आश्रय से तो मिथ्याज्ञान ही बना रहता है।

अनादि से जीव के मति-श्रुतज्ञान होता है और उस ज्ञान से इन्द्रियों द्वारा पुद्गल के शब्द-रूपादि का ही ग्रहण होता है; इसलिए सर्व प्रथम उसकी बात की है और फिर शास्त्र या गुरु के निमित्त से कर्म तथा धर्मद्रव्य आदि को जानता है, इस कारण उसकी बात की है। सर्वज्ञदेव के मार्ग के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर इन धर्म-अधर्मद्रव्य की बात नहीं होती। इस समय धर्मास्तिकायादि द्रव्यों का अधिकार नहीं चल रहा है, इसलिए उन द्रव्यों की सिद्धि इस चालू विषय में नहीं की जा रही है। इस समय तो जो जीव, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को तथा छह द्रव्यों को स्वीकार करता है परन्तु अभी पराश्रय में रुका हुआ है, वैसे जीव को मिथ्याज्ञान दूर होकर सम्यक् मति-श्रुतज्ञान कैसे प्रगट होता है ? — उसका यह वर्णन है। गृहीतमिथ्यात्व दूर करने के पश्चात् अगृहीतमिथ्यात्व कैसे दूर हो ? उसकी यह बात है। ●●

अधर्मद्रव्य से ज्ञान का भिन्नत्व

अधर्म (अधर्मद्रव्य), ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म, अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और अधर्म के व्यतिरेक है।

धर्मद्रव्य की भाँति अधर्मद्रव्य भी लोक में सर्वत्र व्यापक है, अरूपी हैं। जीव या पुद्गल स्वयं गति करते हों, उस समय धर्मद्रव्य निमित्तरूप है और गति करने के पश्चात् स्थिर हों, उस समय अधर्मद्रव्य निमित्तरूप है। यह अधर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि अधर्मद्रव्य अचेतन है; इसलिए ज्ञान और अधर्मद्रव्य भिन्न हैं। ऊपर धर्मास्तिकायद्रव्य की भाँति यहाँ भी समझ लेना चाहिए। ●●

श्री आचार्यदेव का उपदेश है

आत्मस्वभाव के लक्ष्यवाला जीवन ही आदरणीय है, इसके अतिरिक्त दूसरा जीवन आदरणीय नहीं गिना गया है; इसलिए भव्यात्माओं को बारम्बार शुद्धात्मा की चिन्ता में और उसी के रटन में रहना चाहिए – ऐसा श्री आचार्यदेव का उपदेश है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

कालद्रव्य से ज्ञान का भिन्नत्व

काल (कालद्रव्य), ज्ञान नहीं है क्योंकि काल, अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और काल के व्यतिरेक है।

कालद्रव्य, ज्ञान नहीं है क्योंकि कालद्रव्य अचेतन है; इसलिए ज्ञान और काल भिन्न हैं। समस्त लोकाकाश में एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु द्रव्य स्थित है; यह कालद्रव्य अरूपी और स्वतन्त्र अचेतनपदार्थ है। पदार्थों के परिणमन में यह निमित्त है।

ज्ञान और काल का भेदज्ञान किसे होता है ?

जो दुराग्रह से ऐसे कालद्रव्य को स्वीकार ही नहीं करते, वे तो अज्ञानी हैं ही परन्तु जो कालद्रव्य को दुराग्रह से स्वतन्त्र नहीं मानते और उपचरित मानते हैं, वे भी गृहीतमिथ्यादृष्टि हैं; उन्हें ज्ञान और काल का भेदविज्ञान नहीं होता; वास्तव में उन्होंने स्वकाल का पुरुषार्थ ही स्वीकार नहीं किया है। अपने आत्मा की निर्मलपरिणति स्वकाल है, उस स्वकाल में निमित्तरूप एक परकाल (कालद्रव्य) है। जिसने आत्मा में स्वकाल का पुरुषार्थ देखा हो, उस जीव को निमित्तरूप स्वतन्त्र कालद्रव्य का स्वीकार भी होता ही है परन्तु कोई जीव मात्र कालद्रव्य की उन्मुखता में ही रुका रहे और अपने सम्पूर्ण ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान न करे तो वह अज्ञानी है, उसका कालद्रव्य का ज्ञान

वास्तव में आत्मा नहीं है परन्तु अचेतन है; उसे ज्ञान और काल का भेदविज्ञान नहीं है।

स्वभाव के आश्रय से सम्यग्ज्ञान और काल के आश्रय से मिथ्याज्ञान

'काल पके तब मुक्ति होती है' — ऐसा जो मानता है, उसके ज्ञान की उन्मुखता अपने स्वभाव की ओर नहीं है परन्तु कालद्रव्य की ओर है; इस कारण उसका ज्ञान मिथ्या है। उसने ज्ञानस्वभाव का आश्रय नहीं किया परन्तु कालद्रव्य का आश्रय लिया है, अर्थात् काल और ज्ञान का भेदज्ञान नहीं किया परन्तु कालद्रव्य के साथ एकत्वबुद्धि की है, वह मिथ्यात्व है।

'काल पके' इसका अर्थ क्या? कालद्रव्य में तो तीनों काल एक समान अवस्था होती रहती है। जीव स्वयं काल की ओर का लक्ष्य छोड़कर स्वभावोन्मुख हुआ, इससे शुद्धदशा प्रगट हुई — वही स्वकाल पका है। कालद्रव्य की ओर का विचार करने में ही जो ज्ञान रुकता है, वह आत्मा नहीं है। पर की ओर के लक्ष्य से जो मति-श्रुतज्ञान होते हैं, वह मिथ्याज्ञान है। वर्तमान ज्ञान किसके आधार से होता है? कहीं कालद्रव्य के आधार से नहीं होता परन्तु त्रिकाली ज्ञानस्वभाव के आधार से होता है। जो वर्तमान ज्ञान, त्रिकालीस्वभाव का विश्वास नहीं करता, वह ज्ञान, अचेतन है-जड़ है। प्रति समय आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसके आश्रय से जो ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान है।

इस जगत में कालद्रव्य है और उसे व्यवहार से ज्ञान जानता है परन्तु कालद्रव्य के ज्ञान को सच्चा व्यवहार कब कहा जाता है?

त्रिकाली ज्ञानस्वभाव में ढलकर सम्यक् मति-श्रुतज्ञान प्रगट करे तो कालद्रव्य के ज्ञान को व्यवहार कहा जाता है। ऐसा त्रिकाली ज्ञानस्वभाव समझे बिना व्रत या महाव्रत नहीं होते। आत्मा का ज्ञानस्वभाव कैसे प्रगट होता है ? इसे समझे बिना धर्म नहीं होता। जीव, पुद्गल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल - यह छह द्रव्य हैं, उन्हें कहनेवाले देव-शास्त्र-गुरु हैं; उन्हें स्वीकार करे, वहाँ तक भी मिथ्याज्ञान है।

ज्ञानी को स्वाश्रय से मुक्ति का विश्वास

'पुरुषार्थ के बिना काललब्धि से मुक्ति होती है, अथवा कर्म की स्थिति घटे, तब सम्यक्त्व होता है, अथवा अर्द्धपुद्गल -परावर्तन के अन्दर का संसार रहे, तब सम्यक्त्व होता है' — इस प्रकार पराश्रय से माननेवाला जीव, अपने स्वभाव में नहीं ढला है, उसका ज्ञान मिथ्या है; उसे सच्चा व्यवहार भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वभाव की ओर ढलने से ऐसा जानता है कि मुझे अब अल्प संसार है, एक-दो भव में अब संसार पूर्ण होना है और मुक्ति मिलना है। भगवान ने भी सम्यग्दृष्टि को अर्द्धपुद्गलपरावर्तन के अन्दर संसार कहा है। इस प्रकार अपने आत्मा की ओर उन्मुख होकर, स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक शास्त्रों के कथनों को समझता है। 'भगवान ने शास्त्र में कहा है, इसलिए मुझे संसार नहीं है' — इस प्रकार पराश्रय से न लेकर, 'मैं अपने स्वभाव में ढला हूँ; इसलिए मुझे अब संसार नहीं है' — ऐसा स्वाश्रय से ज्ञानी को निःशङ्क विश्वास होता है।

गृहस्थ का छोटे से छोटा अपूर्व धर्म

सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् कोई उत्कृष्टरूप से अर्द्ध

-पुद्गलपरावर्तन तक संसार में परिभ्रमण करता है — ऐसा शास्त्र में कहा है; इससे कोई ऐसा माने कि मुझे भी सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् अर्द्धपुद्गलपरावर्तन संसार में भ्रमण करना रहा होगा? तो ऐसा माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है, उसे अपने आत्मा की श्रद्धा ही नहीं है। अर्द्धपुद्गलपरावर्तन में तो अनन्त भव हो जाते हैं। जो अपने स्वभाव में ढला हो, उसे अनन्त भव होने की शङ्का नहीं होती, और उसे अनन्त भव होते ही नहीं। शास्त्र में तो सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् कोई जीव च्युत हो जाए तो उसे अर्द्धपुद्गलपरावर्तन से अधिक काल तक संसार होता ही नहीं — ऐसा बतलाकर सम्यक्त्व का माहात्म्य किया है।

शास्त्र के शब्द और वाणी तो पुद्गल हैं, कालद्रव्य जड़ है, उसके लक्ष्य से आत्मा का ज्ञान नहीं होता। चैतन्यस्वभाव में ढलने से काल और कर्म - सबका लक्ष्य छूट गया और स्वभाव में एकता करनेवाला सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ। राग से छूटकर ज्ञान अपने स्वभाव में लीन हुआ; रागरहित परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान हुआ — यही सम्यग्दृष्टि गृहस्थ का पहले से पहला और छोटे से छोटा प्रारम्भिक अपूर्व धर्म है। ●●

उसका जीवन धन्य है

यह मनुष्यभव प्राप्त करके करोड़ों रुपये कमाना अथवा मान प्रतिष्ठा इत्यादि प्राप्त करने में जीवन व्यतीत करने को यहाँ धन्य नहीं कहते हैं, अपितु जो अन्तरङ्ग में चैतन्य की भावना करता है, उसका जीवन धन्य है - ऐसा कहते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

श्री श्रुत देवता जयवन्त हो!

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव को नमस्कार हो!

श्री गुजराती प्रवचनसार परमागम-प्रकाशन दिन समयसार की इन गाथाओं के प्रवचनों के समय ही सर्व प्रथम गुजराती प्रवचनसार परमागम का प्रकाशन हुआ। इस प्रसंग को लक्ष्य करके गुरुदेवश्री द्वारा प्रदान किया गया यह प्रवचन है।

प्रवचनसार का गुजराती अनुवाद और उसके अनुवादक

आज यह प्रवचनसार दो हजार वर्ष के पश्चात् गुजराती भाषा में प्रकाशित हो रहा है। आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार इत्यादि महान शास्त्रों की रचना करके इस भरतक्षेत्र में श्रुत की अपूर्व प्रतिष्ठा की थी; उसके पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष बाद श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव हुए; उन्होंने समयसार, प्रवचनसारादि शास्त्रों की संस्कृत टीका की रचना करके उनके गम्भीर भावों को खोला। उसके पश्चात् आज से लगभग 150 वर्ष पूर्व जयपुर निवासी पण्डित जयचन्दजी ने समयसार का हिन्दी अनुवाद किया था। लगभग आठ वर्ष पहले समयसार का गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ है; वह अनुवाद भाईश्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह (B.Sc.) ने किया है। श्री प्रवचनसार परमागम के कितने ही साधारण भाव लेकर श्री पाण्डे हेमराजजी ने हिन्दी में बालाव-बोध भाषाटीका

की थी, परन्तु उसमें मूल टीका के पूरे भाव नहीं थे। इस समय यह प्रवचनसार अक्षरशः गुजराती भाषा में अनुवादसहित इस भारतदेश में दो हजार वर्ष बाद प्रकाशित हुआ है, यह महा प्रभावना का कारण है। यह अक्षरशः अनुवाद श्री हिम्मतभाई ने किया है; इसलिए उनका इस संस्था पर और जिज्ञासु जीवों पर उपकार है... उन्होंने प्रवचनों के श्रवण-मनन से और अपने श्रद्धा-वैराग्य -उत्साह और रुचि से प्रवचनसार के अक्षरशः अनुवाद का जो कार्य किया है, उसका कोई मूल्यांकन नहीं हो सकता; उन्होंने तो अपने आत्महित के लिए यह कार्य किया है।

समझनेवाले जीवों का महाभाग्य

आज दौज और रविवार है। दौज अर्थात् चन्द्र, और रवि अर्थात् सूर्य। इस संस्था से सम्बन्धित अनेक प्रसंगों में रविवार और दौज आती है। आज महा माङ्गलिक प्रसङ्ग का दिन है; भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव का यह प्रवचनसार आज भारत में महान अपूर्व श्रुतप्रभावना के लिए प्रकाशित हुआ है; और वह समझनेवाले जीवों का महाभाग्य और पात्रता सूचित करता है। ऐसे प्रवचनसार का योग मिला, यह महाभाग्य है, यह पूर्व का पुण्य है। इसके भावों को अन्तर में समझना, महान पात्रता है, उसमें अपना वर्तमान पुरुषार्थ है। इस प्रकार पुण्य और पुरुषार्थ की सन्धि है।

प्रवचनसार, अर्थात् दिव्यध्वनि का सार

श्री सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि को प्रवचन कहते हैं; उसका सार इस परमागम में भरा हुआ है, इस कारण इसका नाम प्रवचनसार है। सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि में से यह शास्त्र प्रगट हुआ है। महाविदेहक्षेत्र में विराजमान तीर्थङ्करदेव श्री सीमन्धरस्वामी के

समवसरण में कुन्दकुन्दाचार्यदेव गये थे और वहाँ आठ दिन रहकर भगवान की दिव्यध्वनि श्रवण की थी। उसके साररूप और भगवान महावीर की परम्परा से प्राप्त हुए ज्ञान के द्वारा श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस शास्त्र की रचना की है। इस शास्त्र के कथन अक्षरश: सत्य हैं; परम सत्य हैं; यदि सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान पलट जाय तो इस शास्त्र के अक्षर अन्यथा हो सकते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव, सीमन्धर भगवान के पास गये थे, यह बात नि:सन्देह ऐसी ही है।

श्रुत की महाप्रतिष्ठा करनेवाले विभु कुन्दकुन्द

महाविदेह में जाकर आठ दिन तक दिव्यध्वनि का श्रवण करके कुन्दकुन्दाचार्यदेव अपने आत्मा में अपूर्व ज्ञान ले आये। स्वयं मुनिदशा में तो थे ही, और महावीरस्वामी की परम्परा से प्राप्त हुआ ज्ञान भी था परन्तु सीमन्धर भगवान के पास जाने से उनके ज्ञान की निर्मलता अत्यन्त बढ़ गयी और श्री समयसार, प्रवचनसार, नियमसारादि शास्त्रों की रचना करके उन्होंने इस भरतक्षेत्र में श्रुतज्ञान की महा प्रतिष्ठा की। वह श्रुत इस समय अधिकांश प्रगट होता जा रहा है और वर्तमान में जीवों को भी वैसे भाग्य का योग है। चन्द्रगिरिपर्वत के शिलालेख में लिखा है कि 'जिन पवित्र आत्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वन्द्य नहीं हैं?'

मोक्ष के भाजन

साक्षात् तीर्थंकर भगवान अपनी दिव्यध्वनि से जो कहते हों, उसमें और इस प्रवचनसार में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव जो कुछ कहते हैं, उसमें किंचित् अन्तर नहीं है; जो उसमें अन्तर मानता है,

वह मिथ्यादृष्टि है। जिसके आत्मा में पात्रता न हो, उसे यह बात नहीं जमती और जो पात्र आत्मा होंगे, उन्हें अवश्य यह बात रुचेगी। जिन्हें यह बात रुचेगी, वे अल्प काल में मोक्ष के भाजन हैं, और वे जीव अल्प काल में अपनी परमात्मदशा को वरेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस समय यह जो समयसार, प्रवचनसारादि का महान योग बना है, वह अमुक आत्माओं के अपूर्व संस्कार और पात्रता को बतलाता है।

प्रवचनसार के अनुवाद की अपूर्वता

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के समयसार-प्रवचनसारादि परमागम की प्रभावना इस समय बहुत हो रही है। वि० सं० 1997 में समयसार गुजराती भाषा में प्रकाशित हुआ और उसकी दो हजार प्रतियाँ थोड़े ही समय में समाप्त हो गयीं। उसका गुजराती अनुवाद भी श्री हिम्मतभाई ने किया था। उसमें तो पण्डित जयचन्द्रजी के हिन्दी अनुवाद का कुछ आधार था, परन्तु इस प्रवचनसार का गुजराती अनुवाद तो मूल गाथा-टीका से बिल्कुल नया ही करना था, इसलिए इसमें भारी परिश्रम हुआ है। उन्होंने तीव्र बुद्धि और परिश्रम से यह कार्य समाप्त किया है। मूल गाथा और टीका के पूरे भावों की सम्भाल रखकर अक्षरश: अनुवाद किया है। आवश्यकतानुसार भावार्थ और फुटनोट लिखकर अत्यन्त स्पष्ट किया है। इसके अतिरिक्त मूल गाथा का गुजराती अनुवाद हरिगीत छन्द में बहुत सुन्दर किया है। यह प्रवचनसार अपूर्व वस्तु है; अभी तक देशभाषा में अक्षरश: अनुवादकर्ता कोई नहीं निकला, और यह ग्रन्थ यहाँ से तैयार हुआ है, वह किसी अपूर्व प्रभावशाली योग से बना है।

प्रवचनसार के रचयिता और उनकी महिमा

प्रवचन, अर्थात् वीतरागदेव की दिव्यध्वनि का सार। इस प्रवचनसार में चारित्र की मुख्यता से वर्णन है। जिस प्रकार शरीर की शोभा में तिलक है, उसी प्रकार आत्मा की मुक्ति के मार्ग पर चलनेवाले साधक जीवों को यह प्रवचनसार तिलक के समान है।

प्रवचनसार के प्रारम्भ में ही श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान कहते हैं कि — 'मैं, जिससे मुक्ति प्राप्त हो - ऐसे साम्यभावरूप चारित्र को अङ्गीकार करता हूँ। आत्मा के परम उपशमरस को धारण करता हूँ। अहो, आचार्यदेव का यह कथन तो अक्षरश: सत्य है। स्वयं को वैसी चारित्रदशा वर्त रही थी, उस समय यह शास्त्र लिखा गया है। इस शास्त्र में मुख्यतया दर्शन-ज्ञानपूर्वक के चारित्र का वर्णन है। कथन में ज्ञान-प्रधानता है। एकदम आत्मस्वरूप के अनुभव की लीनता होने पर तीन कषायों के नष्ट होने से चारित्रदशा प्रगट होती है - उसकी इसमें बात है और ऐसी चारित्रदशा में झूलते हुए महामुनि का यह कथन है।

इस परमागम में भावों का रुचिपूर्वक स्वीकार करने में अनन्त तीर्थङ्कर-सर्वज्ञ-सन्तों और ज्ञानियों की स्वीकृति आ जाती है और इसके एक अक्षर की भी अस्वीकृति, अनन्त तीर्थङ्करों-सर्वज्ञों -सन्तों और ज्ञानियों को अस्वीकार करने जैसी है। इसका स्वीकार करनेवाला कौन है ? जिसे अपने भावों में भलीभाँति जम गया है, वही 'हाँ' कहता है। इस कथन का स्वीकार करना — ऐसा कहना व्यवहार में विनय से है परन्तु वास्तव में तो इसका स्वीकार करनेवाले ने इसके वाच्यभूत अपने ज्ञान और सुख से परिपूर्ण स्वभाव की ही

'हाँ' कहकर उसका आदर किया है। वह जीव अल्प काल में पूर्ण ज्ञान-सुखमय दशा को प्राप्त करता है।

अरहन्त भगवान की विहारादि क्रियाएँ क्षायिकी हैं

इस शास्त्र की 45 वीं गाथा में 'केवली भगवान कैसे होते हैं' यह बात आचार्यदेव कहते हैं। केवली भगवान के आहारादि तो होता नहीं है, परन्तु योग के कम्पन के निमित्त से विहार, आसन, स्थान और दिव्यध्वनि बिना इच्छा के होते हैं। यहाँ ऐसा सिद्ध करना है कि अरहन्तों को वह योग का कम्पन या विहारादि बन्ध का कारण नहीं है, परन्तु मुक्ति का कारण है। योग का परिणमन प्रति समय क्षायिकभाव में मिलता है। योग के कम्पन के निमित्त से कर्मबन्धन तो नहीं होता किन्तु अल्प क्षायिकभाव बढ़ता जाता है। योग का कम्पन होने पर भी मोह के अभाव के कारण पारिणामिकभाव में और क्षायिकभाव में ही वृद्धि होती जाती है, इसलिए योग का कम्पन और विहारादि क्रियाएँ औदयिक क्रिया नहीं परन्तु क्षायिकी क्रिया है।

अहो! इसमें अन्तर्दृष्टि की अपूर्व बात है, केवलज्ञानी की वाणी का रहस्य है। योग का कम्पन, केवली भगवान के निर्मलता की ही वृद्धि करता रहता है, यह बात पर्यायबुद्धिवाला जीव नहीं समझ सकता; अध्यात्मवृद्धि-अन्तर्दृष्टिवाला कोई जीव समझता है; दूसरों को उसमें मेल नहीं बैठता और जो यह बात समझ लेता है, उसे क्षायिकभाव प्रगट हुए बिना नहीं रहता है।

'अरहन्त भगवान को योग का कम्पन, विहार, दिव्यध्वनि इत्यादि होते हैं; वह बन्ध का कारण नहीं है परन्तु मुक्ति का कारण है - इससे वह क्षायिकी क्रिया है।' इस प्रकार अरहन्त भगवान

की बात 45 वीं गाथा में चलती थी और भावार्थ बाकी था, वहीं बीच में बराबर यह प्रवचनसार की प्रभावना का प्रसङ्ग बना है। तीर्थङ्करों के उपदेश की और विहार की बात चलती थी, वहाँ इस प्रवचनसार की प्रभावना का उदय हुआ है, यह बात भी कुछ उत्तम योग की सूचना देती है।

प्रवचनसार के अभ्यास का फल

जो जीव, कुन्दकुन्दाचार्य भगवान के इन समयसार-प्रवचनसार इत्यादि परमागम शास्त्रों का सद्गुरुगम से महिमा लाकर, स्वच्छन्दता को छोड़कर, आत्महित की बुद्धि से और इसमें अपूर्व स्वभाव की बात है; इस प्रकार स्वभाव के लक्ष्य से निरन्तर अभ्यास करेगा, वह अल्प काल में परमपद को प्राप्त करेगा और स्वयं ही अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्दरूप हो जाएगा। ●●

(यहाँ तक श्री प्रवचनसार सम्बन्धी व्याख्यान हुआ। अब चालू अधिकार — समयसार, गाथा 390 से 404 पर का व्याख्यान प्रारम्भ होता है।)

सत्शास्त्रों की रचना की है

जो जीव, आत्मा की रुचि और मिठास छोड़कर धन, शरीर तथा भोग की रुचि और मिठास करता है, वह जीव, आत्मस्वभाव की हत्या और भावमरण करता है। ऐसे भावमरण का अभाव करने के लिए करुणा करके आचार्यदेव ने सत्शास्त्रों की रचना की है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

आकाश और ज्ञान का भिन्नत्व

आकाश (आकाशद्रव्य), ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश, अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और आकाश के व्यतिरेक है।

आकाश, ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है; इसलिए ज्ञान और आकाश का भिन्नत्व है। समस्त द्रव्यों से ज्ञान को पृथक् बतलाते-बतलाते अब, अन्तिम आकाशद्रव्य की बात आयी है। प्रदेश की अपेक्षा से आकाश सबसे बड़ा द्रव्य है। आकाश सर्वत्र अनन्त प्रदेशी अरूपी है; वह इन्द्रियज्ञान द्वारा ज्ञात नहीं होता परन्तु श्रुतज्ञान का विषय है।

स्वभाव को स्वीकार नहीं करनेवाला ज्ञान, अधर्म और स्वीकार करनेवाला धर्म

आकाश और ज्ञान भिन्न हैं — ऐसा समझने से अपना ज्ञान, आकाश की ओर न जाकर अपने स्वभाव की ओर आता है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उसकी वर्तमान पर्याय प्रत्येक समय होती है; वह ज्ञानपर्याय कहीं बाह्य में अपनत्व मानकर रुकती हो, उसे स्वभावोन्मुख करना, वह धर्म है। जो ज्ञान बाह्य की (आकाशादि पदार्थों की) बात को स्वीकार करता हो परन्तु स्वभाव को स्वीकार न करता हो, वह अज्ञान है-अधर्म है और जो ज्ञान, अन्तरस्वभाव

को स्वीकार करके उसमें एकाग्र होता है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग है, वह धर्म है।

साधकजीव को सम्यक्मति-श्रुतज्ञान मोक्ष का कारण

प्रत्येक आत्मा, शरीर से भिन्न त्रिकालस्थायी ज्ञानस्वभावी है, उसके ज्ञान की अवस्था में पाँच प्रकार होते हैं — मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान। उनमें से किस ज्ञान से धर्म होता है? अथवा कौन-सा ज्ञान मोक्ष का कारण होता है? केवलज्ञान तो साधकजीव को होता नहीं है, अवधि और मन:पर्ययज्ञान पर को ही जानते हैं, इसलिए वे वास्तव में मोक्ष के कारण नहीं है। अब, मति और श्रुतज्ञान प्रत्येक छद्मस्थ जीव के होते हैं; वे मति-श्रुतज्ञान, आत्मा को छोड़कर पर को जानने में रुकें तो वह अधर्म है। जो पर को जानने में रुकता है, उस मति-श्रुतज्ञान को आत्मा का स्वरूप मानना, अज्ञान है-कुमति-कुश्रुत है और वह ज्ञान, पर का लक्ष्य छोड़कर अपने त्रिकाल आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसके अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा करे तो वह सम्यग्ज्ञान होता है, वह सम्यक्मति-श्रुतज्ञान धर्म है और मोक्ष का कारण है।

धर्म का अपूर्व प्रारम्भ

जो ज्ञान, शब्दादि को जानता है, उतना ही मैं नहीं हूँ; मैं तो अन्तर में परिपूर्ण स्वभाव हूँ; इस प्रकार अन्तरोन्मुख होकर अवग्रह करे, अर्थात् ज्ञान में स्वभाव का ग्रहण करे, ज्ञान को स्वभावसन्मुख करे, वह आत्मोन्मुख मतिज्ञान की छोटी से छोटी प्रथम अवस्था है, और वही धर्म का अपूर्व प्रारम्भ है।

अपूर्व वस्तु : आत्मा को समझ लेना

देखो भाई! आत्मस्वभाव को समझ लेना ही अपूर्व वस्तु है।

अनन्त काल में सब कुछ किया है परन्तु अपना आत्मस्वभाव क्या है? — वह नहीं समझा। इस जीवन में यही करने योग्य है। इसके बिना जीवन में जो कुछ करे, वह सब व्यर्थ है, अर्थात् आत्मा को संसार का कारण है। अनन्त काल से आत्मा को नहीं समझा है, इसलिए उसके लिए अपार रुचि होना चाहिए। रुचि के बिना पुरुषार्थ प्रगट नहीं होता।

रुचिपूर्वक प्रयत्न से अल्प काल में आत्मा की समझ

आत्मा सूक्ष्म-अरूपी वस्तु है। उसका द्रव्य सूक्ष्म, उसके गुण सूक्ष्म और उसकी पर्यायें भी सूक्ष्म हैं; और सूक्ष्म की समझ भी सूक्ष्म ही होती है, उसमें कुछ नवीनता नहीं है; इसलिए रुचिपूर्वक अपने ज्ञान को सूक्ष्म और स्थिर करके अभ्यास करना चाहिए। आत्मा सूक्ष्म है, इसलिए उसको समझने में महा पुरुषार्थ की आवश्यकता है। इस प्रकार पुरुषार्थ की उग्रता कराने के लिए सूक्ष्म कहा है, परन्तु 'आत्मा तो सूक्ष्म है, इसलिए अपनी समझ में नहीं आएगा' — ऐसा नहीं मानना है।

जिन्हें आत्मा की रुचि हो, उन प्रत्येक जीवों को आत्मा समझ में आने योग्य है। 'यह सूक्ष्म है' — ऐसा कहकर उसे समझने का प्रयत्न ही छोड़ देना - वह तो आत्मा की अरुचि और अनन्त संसार में परिभ्रमण का कारण है। जहाँ अपनी रुचि हो, वहाँ बारम्बार प्रयत्न करने से थकता नहीं है। सूक्ष्म मेरा स्वभाव और सूक्ष्म उसका ज्ञान — इस प्रकार स्वभाव की महिमा लाकर, रुचि से बारम्बार प्रयत्न करे तो अल्प काल में स्वभाव समझ में आ जाये, और जन्म-मरण के दुःखों से छूट जाये। अपना स्वभाव समझे बिना अन्य कोई दुःखों से मुक्त होने का उपाय नहीं है।

धर्म करनेवाले जीव के अन्तर में होनेवाली ज्ञानक्रिया

देहादि की क्रियाएँ अथवा पूजा-व्रत-दानादि के भाव, ज्ञान का स्वरूप नहीं है और उस विकार के लक्ष्य जितना ही ज्ञानस्वभाव को माने तो वह भी मिथ्यात्व है-अज्ञान है-अव्रत है, ज्ञानस्वरूप की हिंसा का पाप है। जड़ की क्रिया, विकारभाव अथवा उस ओर का क्षणिक ज्ञान - उन सबसे भिन्न अन्तर में अपना परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है, उस ओर ज्ञान उन्मुख हो, तब सम्यक् मतिज्ञान के प्रारम्भ का अवग्रह हुआ; यहाँ से धर्म का प्रारम्भ है।

❖ पर की ओर जाते हुए मतिज्ञान को रोककर स्वभावोन्मुख करे, वहाँ प्रथम तो स्वभाव के ग्रहणरूप **अवग्रहण** होता है;

❖ फिर स्वभाव की विचारणारूप **ईहा** होती है;

❖ पश्चात् वही ज्ञान उपयोग, स्वभाव की ओर विशेष बढ़ने पर स्वभाव का ऐसा निश्चय होता है कि वह बदल नहीं सकता, इसका नाम **अवाय** है; और

❖ फिर कालान्तर में विस्मरण न हो, ऐसी स्वभाव की **धारणा** होती है — ऐसी अन्तरस्वभाव की ज्ञानक्रिया ही धर्म की क्रिया है। बाह्य में किसी पुण्य में, पैसे में या शरीर की क्रियाओं में कहीं भी धर्म नहीं है।

प्रथम तो सत्समागम से आत्मा की रुचिपूर्वक आत्मस्वभाव जैसा है, वैसा ध्यान में लेना चाहिए; तत्पश्चात् अपने मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को पर की ओर उन्मुख न करके, ज्ञानस्वभाव में झुककर वहीं एकाग्र करना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मार्ग है।

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा

बहिरात्मा जीव अपने ज्ञान में संयोगों को-निमित्तों को और

विकल्पों को स्वीकार करता है, परन्तु अपने त्रिकाली ज्ञान को स्वीकार नहीं करता। अन्तरात्मा जीव, वर्तमान ज्ञान की अवस्था को अन्तरोन्मुख करके त्रिकाली ज्ञानस्वभाव का स्वीकार करता है और संयोगों अथवा रागादि का अवलम्बन नहीं मानता। रागादि होते अवश्य हैं परन्तु उनका आश्रय नहीं मानता। परमात्मा जीव अपने त्रिकालीस्वभाव के आश्रय से परिपूर्ण हो गया है, उसे रागादि की उत्पत्ति ही नहीं होती। इन तीन दशाओं में जो अन्तरात्मा है, वह परमात्मा होने का उपाय है। बहिरात्मपना दूर करके अन्तरात्मपना कैसे प्रगट हो, अर्थात् अधर्मीपना दूर होकर धर्मीपना कैसे हो ? उसकी बात यहाँ चल रही है।

निर्विकल्पसमाधि का आनन्द कब ?

मतिज्ञान को स्वभावोन्मुख करके स्वभाव में स्थित हो तो श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा के आनन्द का अनुभव होता है। मति और श्रुतज्ञान, पर में एकता करे तो आकुलता का वेदन होता है। पहले सत्य उपदेश के श्रवण से स्व-पर का भिन्नत्व जानकर, मतिज्ञान को अन्तरस्वभावोन्मुख करके, श्रुतज्ञान भी आत्मा में स्थिर हो, तब आत्मा को निर्विकल्पसमाधि का अतीन्द्रियआनन्द होता है; उसका नाम निर्विकल्प सम्यग्दर्शन है, वह आत्मसमाधि है, वही सुख है और वही धर्म है।

आकाश, परद्रव्य है; ज्ञान से पृथक् है, वह श्रुतज्ञान का विषय है परन्तु यदि श्रुतज्ञान उसका आश्रय करके जाने तो श्रुतज्ञान में विकल्प और आकुलता ही होती है और चेतनस्वभाव का आश्रय करके वह ज्ञान एकाग्र हो, तब श्रुतज्ञान में निर्विकल्पसमाधि का आनन्द होता है। जो ऐसे ज्ञानस्वभाव की रुचि और प्रतीति करता है, वह मोक्षमार्ग प्रगट करके अनुक्रम से पूर्ण दशा प्रगट करता है।

स्वानुभवप्रत्यक्ष आत्मस्वभाव को समझने-सुनने की अपूर्वता

आत्मा स्वयं सूक्ष्मस्वभाववाला है, वह किसी पर के अवलम्बन से ज्ञात हो वैसा नहीं है परन्तु स्वभाव का अवलम्बन करने से उसे जाना जा सकता है, अर्थात् आत्मा स्वानुभवप्रत्यक्ष है। अनन्त काल में अपने आत्मा को जानने की जीव ने कभी दरकार नहीं की है; अनन्त काल से जो कुछ जाना है, वह मात्र पर को जाना है परन्तु अपने को जानने की दरकार नहीं की है। अपना स्वरूप जाने बिना पर का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता है।

श्री समयसार की चौथी गाथा में आचार्यदेव ने कहा है कि अपने आत्मस्वभाव से विरुद्ध ऐसी काम, भोग, बन्ध की कथा तो सर्व जीवों को सुलभ है, वह तो जीव ने अनन्त काल से सुनी है, उसका परिचय किया है और अनुभव भी किया है परन्तु पर से भिन्न अपने एकत्वस्वभाव की बात भी कभी रुचिपूर्वक नहीं सुनी है।

अपना आत्मा सदैव अन्तरंग में प्रकाशमान है और निर्मल भेदज्ञान के प्रकाश से उसे स्पष्ट भिन्न देखा जा सकता है, परन्तु पर के साथ की एकत्वबुद्धि के कारण स्वयं अपने भिन्न स्वभाव को कभी नहीं जाना है; और न दूसरे आत्मज्ञानी पुरुषों की सेवा-संगति की है; न उनकी बात रुचिपूर्वक सुनी है। जब सत्पुरुष की वाणी सुनने का योग मिला, तब भी स्वाश्रय की रुचि नहीं की और वाणी आदि के या पराश्रित व्यवहार के लक्ष्य में रुक गया, इस कारण अनन्त काल में जीव, आत्मस्वभाव को नहीं समझा है।

जिस प्रकार मगलेशिया (एक प्रकार का पत्थर) पर लाखों मन पानी पड़े तो भी वह भीगता नहीं है; उसी प्रकार जो अपने भावश्रुतज्ञान को अन्तरोन्मुख करके चैतन्यमूर्ति आत्मस्वभाव का

आश्रय नहीं करता और द्रव्यश्रुत के अवलम्बन से ही ज्ञान मानकर रुकता है — ऐसे जीव पर सत्पुरुष की अमृतवाणी की चाहे जितनी वर्षा हो, परन्तु वह भीगता नहीं है, उसे धर्म नहीं होता। वाणी के लक्ष्य से धर्म नहीं होता परन्तु स्वभाव के आश्रय से ही धर्म होता है। सत्पुरुषों की वाणी भी स्वभाव का आश्रय करने के लिए कहती है परन्तु जीव स्वयं भावश्रुत प्रगट करके स्वभाव का आश्रय न करे तो द्रव्यश्रुतरूप वाणी उसे क्या करेगी? वाणी तो अचेतन है, उसके आधार से ज्ञान नहीं है। आत्मा की ओर उन्मुख न होकर परोन्मुख होने से जो ज्ञान हो, वह वास्तव में अचेतन है; आत्मा के चेतनस्वभाव के साथ उसकी एकता नहीं है।

आकाश बड़ा या ज्ञान?

आज प्रवचनसार की प्रसिद्धि का महान दिवस है और बात भी महान सर्व व्यापक आकाशद्रव्य की आयी है। उस आकाशद्रव्य से भी ज्ञान पृथक् है। ज्ञान को आकाश का आश्रय नहीं है, अपितु अपने स्वभाव का ही आश्रय है। इस जगत में अनन्त जीव हैं; जीवों की अपेक्षा पुद्‍गल अनन्तगुने हैं; पुद्‍गलों की अपेक्षा तीन काल के समय अनन्तगुने हैं; और काल के समय की अपेक्षा आकाश के प्रदेशों की संख्य अनन्तगुनी है; और इन सबकी अपेक्षा आत्मोन्मुख ज्ञान के एक समय का अनन्तगुना सामर्थ्य है। यदि ज्ञान आत्मोन्मुख हो तो वह आकाशादि से भी अनन्तगुना जाने — ऐसी उसकी अवस्था की शक्ति है और ऐसी अनन्त अवस्था का पिण्ड आत्मस्वभाव है। ऐसे सम्पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य का विश्वास और महिमा न करे और आकाशादि ज्ञेय पदार्थों को जानने में ही रुक जाए तो जीव को धर्म नहीं होगा; इसलिए यहाँ आचार्यदेव

समझाते हैं कि आत्मा का ज्ञान, आकाशादि पदार्थों से भिन्न है।

धर्म कहाँ और कैसे होता है ?

ज्ञान से आत्मा का धर्म किस प्रकार होता है ? उसकी यह बात है। धर्म कहीं बाह्य में तो होता नहीं है, और आत्मा के द्रव्य या गुण में भी नहीं होता; धर्म तो आत्मा की वर्तमान अवस्था में होता है। अब ज्ञान की वर्तमान अवस्था यदि आकाशद्रव्य की ओर लक्ष्य करे तो उस अवस्था में धर्म नहीं होता। 'समस्त द्रव्यों की अपेक्षा आकाशद्रव्य अनन्तगुना विशाल है' — ऐसा श्रुतज्ञान के विकल्प से अर्थात् राग में एकता से जो ज्ञान लक्ष्य में ले, उस ज्ञान को भी अचेतन पदार्थों के साथ अभेद गिनकर अचेतन कहा है और जो ज्ञान-अवस्था आकाशादि परद्रव्यों की ओर के विकल्प से छूटकर आत्मस्वभावोन्मुख हो, वह ज्ञान, रागरहित है; चेतन के साथ अभेद है और वह ज्ञान ही धर्म है।

पराश्रित ज्ञान अचेतन, स्वाश्रित ज्ञान मोक्ष का कारण

अनन्त आकाश को लक्ष्य में लेने पर भी, जो ज्ञान पराश्रित है, वह अचेतन है और आत्मा का जो वर्तमान ज्ञान, दयादि के विचारों में रुकता है, वह भी अचेतन है। एक समय के भावश्रुतज्ञान को स्वभावोन्मुख करके, त्रिकाली आत्मस्वभाव की रुचिवाला जो ज्ञान प्रगट होता है, वह त्रिकाली चेतन के साथ एक हुआ, उसे यहाँ चेतन कहा है। स्वभाव का आश्रय करके आत्मा को जानता है, वह निश्चय है, और स्वभाव के आश्रयपूर्वक आकाश की अनन्तता इत्यादि को जानता है, वह व्यवहार है। इस प्रकार अपार चैतन्यस्वभाव को लक्ष्य में लेकर उसका आश्रय करे, उसी को यहाँ यथार्थ ज्ञान कहा है; अज्ञानी के पराश्रित ज्ञान को यहाँ अचेतन

में गिना है। राग कम करके शास्त्र के आश्रय से ग्यारह अंगों को जाने, तथापि वह ज्ञान, मात्र राग का चक्र बदलकर हुआ है; उस ज्ञान में स्वभाव का आश्रय नहीं है परन्तु राग का आश्रय है, इसलिए ग्यारह अंगों का ज्ञान भी अनादि की जाति का ही है। आत्मस्वभाव की रुचि करके उसमें समाधि-एकाग्रता द्वारा जो ज्ञान प्रगट हो, वह अपूर्व है, मोक्ष का कारण है। भले ही शास्त्र इत्यादि पर का अधिक ज्ञान न हो, फिर भी स्वभाव के आश्रय से हुआ ज्ञान, सम्यग्ज्ञान है और वह केवलज्ञान का कारण है।

अब, विचार करो कि कितने बाह्य कारणों से आत्मा का ज्ञान प्रगट होता है? बाह्य पदार्थों के ज्ञान से अथवा उस ओर के शुभराग से चैतन्यस्वरूप आत्मा का ज्ञान नहीं होता। आत्मोन्मुख होने पर ही आत्मा का ज्ञान होता है। जीव की अपेक्षा पुद्गल; पुद्गल की अपेक्षा काल के समय; और उनकी अपेक्षा आकाश के प्रदेश अनन्तगुने हैं, उनका ख्याल परलक्ष्य से करे, परन्तु उन सबको ख्याल में लेनेवाला अपना चैतन्यस्वभाव कैसा है? - उसे ख्याल में न ले तो मात्र परलक्ष्य से हुआ ज्ञान का विकास स्थायी नहीं रहता। आत्मा का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, अपने चैतन्यस्वभाव के यथार्थ ज्ञान बिना पर का ज्ञान यथार्थ नहीं होगा और ऐसे ज्ञान से (मात्र परलक्ष्यी ज्ञान से) आत्मा को सुख या धर्म नहीं होगा।

चैतन्य लक्ष्यी ज्ञान की अनन्त सामर्थ्य और महिमा

सभी द्रव्यों में आकाश की प्रदेशसंख्या अनन्त है, परन्तु आत्मस्वभाव की ज्ञानसामर्थ्य उससे भी अनन्तगुनी है क्योंकि अनन्त आकाश को जाने — ऐसी ज्ञान की एक पर्याय की सामर्थ्य है; ऐसी अनन्त पर्यायों का पिण्ड एक ज्ञानगुण है और ऐसे ज्ञान

-दर्शन-सुख-वीर्य आदि अनन्त गुण आत्मा में है। ऐसे चैतन्यस्वभाव की अनन्तता लक्ष्य में लेने से ज्ञान की अपनी ओर की अनन्तगुनी दशा विकसित हुई। आकाश की अनन्तता की अपेक्षा चैतन्य की अनन्तता अनन्तगुनी है; इसलिए आकाश को लक्ष्य में लेनेवाले ज्ञान की अपेक्षा चैतन्य को लक्ष्य में लेनेवाले ज्ञान में अनन्तगुनी सामर्थ्य है और ऐसी अनन्त चैतन्यसामर्थ्य का ज्ञान करने से सम्यक् पुरुषार्थ हुआ है।

आकाश की अनन्तता लक्ष्य में लेनेवाला ज्ञान, परप्रकाशक है, उसकी महिमा नहीं है और वास्तव में वह मोक्षमार्ग में सहायक नहीं है। जो ज्ञान, स्वभाव को पकड़कर एकाग्र हो, उस ज्ञान की महिमा है, और वह मोक्षमार्गरूप है।

यहाँ पर की ओर के ज्ञान का निषेध करने से वास्तव में तो व्यवहार का और पर्यायबुद्धि का ही निषेध करके उसका आश्रय छुड़ाया है। इसी प्रकार धर्म होता है। इसमें पापभाव की तो बात नहीं है और राग कम करके पुण्य करते-करते धर्म हो जाएगा — ऐसा कोई माने तो उसे किंचित् धर्म नहीं है, परन्तु मिथ्यात्व के पाप की पुष्टि करते रहने से उसकी पर्याय में निगोददशा होती है।

द्रव्यों की संख्या में पुद्गलद्रव्य सबसे अनन्त हैं; क्षेत्र से आकाशद्रव्य सबकी अपेक्षा अनन्तगुना है और भाव से भगवान आत्मा के ज्ञान की अनन्तता है। समस्त पदार्थों की अनन्तता को जाननेवाला आत्मा का ज्ञान ही है, उस ज्ञान की ही महिमा है। ज्ञानस्वभाव की अनन्तता की महिमा जानकर, उसमें जो ज्ञान झुका, वह ज्ञान, आत्मकल्याण का कारण है। छह द्रव्यों के सम्पूर्ण स्वभाव का यथार्थ वर्णन सर्वज्ञदेव के मार्ग के अतिरिक्त अन्य

कहीं नहीं है और उन छह द्रव्यों का तथा उन्हें जाननेवाले अपने ज्ञानस्वभाव का यथार्थ स्वीकार करनेवाले सर्वज्ञदेव के अनुयायी सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।

जिनवाणी का सार

आज प्रवचनसार की प्रभावना का दिन है। प्रवचन, अर्थात् जिनवाणी। उपरोक्त कथनानुसार ज्ञानस्वभावी आत्मा को जानना ही सर्व जिनवाणी का, अर्थात् प्रवचन का सार है।

चेतन को भूलनेवाला ज्ञान अचेतन है

आकाश की अनन्तता आदि छहों द्रव्यों को रागसहित लक्ष्य में ले, उतना विकास तो अज्ञान में भी होता है। समस्त द्रव्यों में आकाश अनन्तगुने प्रदेशवाला है — ऐसा तो मिथ्या श्रुतज्ञान भी ख्याल में लेता है परन्तु परपदार्थों का चाहे जितना ज्ञान करे, वह आत्मा के जानने में कार्यकारी नहीं होता। अपने स्वभाव की स्वीकृति के बिना जितना पर का ज्ञान हो, वह सब अचेतन है। चेतन तो उसे कहते हैं कि जो त्रिकाली ज्ञानस्वभाव को स्वीकार करके उसमें अभेद हो। चैतन्य से भेद करके पर में अभेदत्व माने तो वह ज्ञान, चेतन का विरोधी है।

आकाश जड़द्रव्य है और उसमें ज्ञान नहीं है — ऐसा तो सामान्यत: अनेक जीव मानते हैं परन्तु यहाँ मात्र आकाश का ही अचेतनत्व सिद्ध नहीं करना है, किन्तु आचार्यदेव ने यहाँ गूढ़भाव भरे हैं। अकेले आकाश की ओर का ज्ञान भी अचेतन है — ऐसा कहकर त्रिकाली आत्मस्वभाव के साथ ज्ञान की एकता बतलाते हैं। इस कारण वर्तमान ज्ञान में से पर का और पर्याय का भी आश्रय छोड़कर त्रिकाली द्रव्य का आश्रय करना बतलाया है।

पात्र जीव को स्वोन्मुख होने का उपदेश

जिस जीव ने कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र-कुतीर्थ की मान्यता छोड़ दी है, और जैन के नाम पर भी जो कल्पित मिथ्यामार्ग चलता है, उसकी श्रद्धा छोड़कर सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, पहिचान की है और उनके कहे आकाशादि द्रव्यों के विचार में ही रुका है परन्तु अपने स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं होता — ऐसे पात्र जीव के लिए यहाँ उपदेश है कि हे जीव! परद्रव्योन्मुख होकर रागसहित जो ज्ञान जानता है, वह तेरा स्वरूप नहीं है परन्तु चैतन्यस्वभावोन्मुख होकर ज्ञान की जो अवस्था, चैतन्यस्वभाव में अभेद होकर स्व-पर को जाने, वह तेरा स्वरूप है। चैतन्यस्वभावोन्मुख होकर उसमें लीन हुई पर्याय ही चैतन्य का सर्वस्व है।

सत् की दुर्लभता और श्रोता की पात्रता

यह बात आत्मस्वभाव की है; किन्हीं अन्य सम्प्रदायों के साथ अथवा लौकिक बातों के साथ इसका किंचित् मेल नहीं बैठ सकता; और यह बात अन्यत्र जहाँ-तहाँ से मिले ऐसी नहीं है। जिसे आत्म-कल्याण की दरकार है, भवभ्रमण का डर है - ऐसे आत्मार्थी के अतिरिक्त दूसरे जीवों को यह बात नहीं जम सकती। ऐसे मनुष्य-अवतार में आया और परम दुर्लभ सत्यवाणी सुनने का योग मिला, यदि इस समय स्वभाव की रुचि से यह बात नहीं सुने-समझे तो फिर कब सुनेगा? अनन्त काल में ऐसी बात सुनने को मिलना दुर्लभ है।

साधकजीव की जागृति

अहो! अनन्त आकाश को लक्ष्य में लेनेवाले — ऐसे ज्ञान को भी जो जीव 'अचेतन' मानेगा, वह जीव राग-द्वेष को कैसे अपना

मानेगा? और उससे धर्म होना कैसे मानेगा? पर का कर्ता अपने को कैसे मानेगा? यह जीव तो अपनी ज्ञानपर्याय का भी आश्रय छोड़कर, अपने परिपूर्ण स्वभाव के सन्मुख होकर वहाँ लीन होगा। अहो! ऐसे भगवान चैतन्यस्वभाव की स्वीकृति में कितना पुरुषार्थ है! अपने मति-श्रुतज्ञान को स्वभाव में एक करके, स्वभाव के आश्रय से मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ — ऐसा जिसने स्वीकार किया है, उसकी ज्ञानचेतना जागृत हुई है, वह आत्मा स्वयं जागृत हुआ है; साधक हुआ है, और अब अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करनेवाला है।

आत्मकल्याण की अपूर्व बात

यह आत्मकल्याण की अपूर्व बात है। यह जल्दी से समझ में न आये तो अरुचि नहीं लाना चाहिए, अपितु विशेष अभ्यास करना चाहिए। 'यह मेरे आत्मा की अपूर्व बात है, इसे समझने से ही कल्याण है' — इस प्रकार अन्तर में उसकी महिमा लाकर, रुचिपूर्वक श्रवण-मनन करना चाहिए। समस्त आत्माओं में यह समझने की शक्ति है। मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मैं बालक हूँ — ऐसी शरीरबुद्धि छोड़कर अन्तरंग में ऐसा लक्ष्य करना चाहिए कि मैं आत्मा हूँ, शरीर से भिन्न ज्ञानस्वरूप हूँ, प्रत्येक आत्मा भगवान है, ज्ञानस्वरूपी है, उसमें परिपूर्णतया समझने की शक्ति भरी हुई है; इसलिए 'मेरी समझ में नहीं आता' — ऐसी शल्य को निकालकर मुझे सब समझ में आता है, ऐसी मेरी शक्ति है — ऐसा विश्वास करके समझने का प्रयत्न करना चाहिए। जो रुचिपूर्वक प्रयत्न करता है, उसकी समझ में न आये - ऐसा हो ही नहीं सकता। इसमें बुद्धि के विकास की आवश्यकता नहीं है, परन्तु रुचि की आवश्यकता है।

स्वाश्रयी मेढ़क को धर्म और पराश्रयी द्रव्यलिंगी को अधर्म

ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है, और उसकी पर्याय यदि परोन्मुख होकर ही जाने तो भगवान उसे 'अचेतन' कहते हैं क्योंकि वह ज्ञान, स्वभाव की रुचि से प्रगट नहीं हुआ है परन्तु पर की रुचि से, राग की मन्दता होकर प्रगट हुआ है। एक मेढ़क का आत्मा भी चैतन्य की पर्याय को स्वोन्मुख करके एकाग्र करे तो उसके ज्ञान को चेतन कहा है, वह धर्मी है; उसके आत्मा में प्रतिक्षण धर्म होता है और कोई दिगम्बर जैन द्रव्यलिंगी साधु होकर 28 मूलगुण तथा पञ्च महाव्रतों का निरतिचार पालन करे, नव तत्त्व के व्यवहार की श्रद्धा करे और ग्यारह अंग तक पढ़ ले; जैनदर्शन में कही हुई पूर्ण व्यवहार की रीति करे परन्तु अपने स्वावलम्बी चैतन्यभाव में लक्ष्य न करे तो उसका सारा ज्ञान और चारित्र मिथ्या है; भगवान उसके ज्ञान को अचेतन कहते हैं। वह चाहे जितना करे परन्तु उसे धर्म नहीं होता; प्रतिक्षण अधर्म होता है; इसलिए बाह्य में छोटे-बड़े शरीर के साथ या अन्तरंग ज्ञान के विकास के साथ धर्म का सम्बन्ध नहीं है परन्तु अपने ज्ञान में स्वाश्रय या पराश्रय करे, उसके साथ धर्म-अधर्म का सम्बन्ध है। यदि स्वाश्रय करे तो मेढ़क का आत्मा भी धर्म प्राप्त करता है और स्वाश्रय न करे तो द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि साधु भी धर्म प्राप्त नहीं करता।

इस कथन का मूल तात्पर्य

इस समस्त कथन का तात्पर्य संक्षेप में समझना हो तो ऐसा है कि आत्मा के ज्ञान को पर्यायबुद्धि से हटाकर द्रव्यबुद्धि में लाना ही आत्मकल्याण का-हित का-श्रेय का-मोक्ष का अथवा धर्म का मार्ग है; इसी में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपादि का समावेश

हो जाता है। प्रथम तो अपने अन्तर में अपने आत्मस्वभाव का उत्साह आना चाहिए। अपना स्वभाव समझने के लिए उसके श्रवण-मनन की रुचि होनी चाहिए।

अहो, भगवान कुन्दकुन्द! और जगत् का महाभाग्य!

अहो! कुन्दकुन्दाचार्यदेव की क्या बात करें! कुन्दकुन्दाचार्य देव तो भगवान कहलाते हैं! उनका वचन, अर्थात् केवली का वचन। अन्तर में अध्यात्म का स्रोत उमड़ रहा था, एकदम केवलज्ञान की तैयारी थी; वीतरागभाव से अन्तर में स्थिर होते-होते फिर छद्मस्थदशा में रह गये और विकल्प उठने से महान शास्त्रों की रचना हो गयी। इतना जगत का महाभाग्य था कि उनके द्वारा इन समयसार, प्रवचनसार जैसे महान परमागमों की रचना हो गयी। इस समय तो वैसी शक्ति यहाँ नहीं है। सौराष्ट्र का भी महाभाग्य है कि गुजराती भाषा में वे शास्त्र प्रकाशित हो गये हैं।

आत्मस्वभाव की भावना

व्याख्यान में एक की एक बात बारम्बार कही जाती है, तो उसमें कहीं पुनरुक्ति-दोष नहीं होता, क्योंकि यह तो आत्मस्वभाव की भावना है; वह भावना बारम्बार करने में दोष नहीं है, इससे तो स्वभाव की दृढ़ता होती है; यह भावना तो बारम्बार करने योग्य है। बारम्बार आत्मस्वभाव की बात सुनने से उसमें किंचित् अरुचि नहीं आना चाहिए। आत्मस्वभाव की बात बारम्बार सुनने से अरुचि हो तो उसे आत्मा की अरुचि है।

भेदविज्ञान का सार कैसे प्रगट हो?

वर्तमान पर्याय, पर को और अपने अंश को ही स्वीकार करे, परन्तु पर से भिन्न त्रिकाली पूर्ण आत्मा को स्वीकार न करे तो वह

अज्ञान है। रागसहित ज्ञान से अनन्त आकाश का ख्याल आया, उससे विमुख होकर, अर्थात् आकाशद्रव्य तथा उस ओर उन्मुख होकर उसे जाननेवाले ज्ञान के अंश का आश्रय छोड़कर, जीव परिपूर्ण ज्ञानस्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ उसका ज्ञान, रागरहित हुआ, अपूर्व भेदविज्ञान प्रगट हुआ; अनन्त कषाय का नाश हुआ और ज्ञान के स्वरूपाचरणरूप अनन्त चारित्र प्रगट हुआ; राग-रहित ज्ञानस्वभाव की यथार्थ प्रतीति और अनुभव से सम्यग्दर्शन हुआ। पहले जो ज्ञानपर्याय, पर में रुकती थी, उस पर्याय में मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र था और जब ज्ञानपर्याय, स्वोन्मुख हुई, तब उस पर्याय में सम्यक्श्रद्धा-सम्यक्ज्ञान और अनन्त स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हुआ। मति-श्रुतज्ञान को स्वभावोन्मुख करना, वह भेदविज्ञान का सार है — उसकी यह बात है। मति -श्रुतज्ञान को स्वभावोन्मुख करके, पश्चात् स्वभावसामर्थ्य की प्रतीतिपूर्वक ज्ञान में परपदार्थ भी ज्ञात होते हैं, वह तो ज्ञान की ही स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य है; वहाँ परपदार्थ ज्ञात होते हैं, उससे कहीं ज्ञान में दोष नहीं होता।

देशनालब्धि और भेदविज्ञान का सार

आत्मज्ञानी पुरुष के उपदेशरूप देशनालब्धि मिलने से जिसे आत्मस्वभाव की रुचि हुई, उसे मुक्ति के लिए भावी नैगमनय लागू हो गया, अर्थात् वह जीव भविष्य में मुक्ति प्राप्त करेगा — ऐसा ज्ञानी जानते हैं। धर्म प्राप्त करनेवाले जीवों के देशनालब्धि होती है — ऐसा नियम है। सत्समागम से परमार्थ आत्मस्वभाव का श्रवण करके, उस स्वभाव की रुचिपूर्वक बारम्बार अभ्यास करके जब ज्ञान, स्वसन्मुख होकर आत्मा को जानता है, तब पहले

तो मतिज्ञान से आत्मा का अवग्रह होता है, फिर वही ज्ञान-उपयोग विशेष दृढ़ होने से श्रुतज्ञान का उपयोग, स्वभाव में स्थिर होता है। जो श्रुतज्ञान, स्वभाव में अभेदरूप से स्थिर हुआ, उसे निश्चयनय कहते हैं, वही धर्म है, वही भेदविज्ञान का सार है। स्वभाव की ओर ढलते हुए ज्ञान को ही यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इत्यादि कहा है।

आकाशादि का ज्ञान अज्ञानी को मिथ्या, ज्ञानी को सम्यक्

अज्ञानी को आकाशादि का जो ज्ञान होता है, वह सब मिथ्या है क्योंकि वह स्वभाव का आश्रय छोड़कर, पर में एकत्वबुद्धि से जानता है। ज्ञानी को आत्मा की पहचानसहित जो आकाशादि का ज्ञान है, वह सब सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान में स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य होने से परपदार्थों का ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान में मिल गया क्योंकि पर को जानते समय वह एकताबुद्धिपूर्वक नहीं जानता; स्वभाव का ही आश्रय रखकर जानता है; इसलिए वह ज्ञान मिथ्या नहीं है, तथापि ज्ञानी का स्वोन्मुख ज्ञान-उपयोग और परोन्मुख ज्ञान-उपयोग - दोनों पृथक् हैं। स्व-पर के भेदविज्ञान के बल से ज्ञानी के प्रतिक्षण स्वभाव की ओर ज्ञान की उन्मुखता बढ़ती जाती है और परोन्मुखता दूर होती जाती है।

भेदविज्ञान में ही सामायिकादि समाहित हैं

जो जीव, आत्मा और ज्ञान को अभेद करता है, उसी के सच्चा समभाव, अर्थात् सामायिक होती है; उस जीव ने अपने स्वभाव में ही सन्तोष माना और सर्व परद्रव्यों में अपनत्व की बुद्धि छोड़ दी, उसका नाम प्रतिक्रमण है। उस जीव ने शरीर और शरीर की आहारादि क्रियाओं से अपने स्वभाव को भिन्न जानकर, शरीर का स्वामित्व छोड़ दिया, उसमें चौविध आहार का त्याग आ गया।

आत्मा की पर्याय को स्वभाव में ही लीन करने से — 'तीनों काल के समस्त आहार मैं नहीं हूँ, उस ओर का राग मैं नहीं हूँ और उसके लक्ष्य से जो उसका ज्ञान होता है, वह भी मैं नहीं हूँ' — इस प्रकार उन सबसे भेदज्ञान हुआ, इसलिए सम्यग्दृष्टि-भेदज्ञानी -धर्मात्मा को श्रद्धा में से तीनों काल के आहार का त्याग हो गया। इसमें कितने उपवास आ गये ?

प्रथम इस प्रकार श्रद्धा की अपेक्षा से तीनों काल के आहार का त्याग करने के पश्चात्, आत्मस्वरूप में विशेष एकाग्र होने से स्वरूपसमाधि का आनन्द बढ़ता जाता है, और आहारादि की इच्छाएँ दूर होती जाती हैं, उसका नाम तप है, वह चारित्र है। आत्मा की पहिचान के बिना आहारादि के राग को कम करे, उसे कहीं उपवास नहीं कहते। पर की, शरीर की और रागादि की रुचि छोड़कर, जो मति-श्रुतज्ञान, स्वाभावोन्मुख हुआ, वह मोक्ष का कारण है। मन-वाणी-देह से भिन्न चैतन्य को जानकर उसमें एकाग्र हुआ, वहाँ शरीरादि पर का लक्ष्य ही छूट गया; काय से उपेक्षाभाव हो गया, उसे कायोत्सर्ग कहते हैं। इस प्रकार स्व-पर का भेदज्ञान करके ज्ञान को स्वभावोन्मुख करने से उसमें समस्त धर्म आ जाते हैं। इसलिए ज्ञान को स्वभाव में एकाग्र करना, वह भेदविज्ञान का सार है —

यहाँ पर को जाननेवाले ज्ञान पर जोर नहीं दिया है, बारह अंग का ज्ञान अथवा जातिस्मरण आदि ज्ञान पर जोर नहीं है परन्तु स्वभाव के लक्ष्य से जो मति-श्रुतज्ञान स्व में एकाग्र हो, उसकी महिमा है — वह मोक्ष का कारण है। ●●

अध्यवसान (राग-द्वेष) और ज्ञान का भिन्नत्व

अध्यवसान, ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान, अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और (कर्मोदय की प्रवृत्तिरूप) अध्यवसान के व्यतिरेक है।

पाँचों जड़ द्रव्यों से ज्ञान की भिन्नता का वर्णन पूर्ण हुआ। अब, आत्मा की अवस्था में होनेवाले विकारीभावों से ज्ञान की भिन्नता बतलाते हैं —

अध्यवसान है, वह ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान, अचेतन है; इसलिए ज्ञान और अध्यवसान भिन्न हैं। स्वभाव का आश्रय छूटकर, कर्म के उदय के निमित्त से जो राग-द्वेषादि विकारभाव होते हैं, उसे अध्यवसान कहते हैं, वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है।

आत्मा के ज्ञान का पर जीवों से भिन्नत्व

प्रश्न :- यहाँ टीका में पाँच जड़ द्रव्यों से और विकारीभावों से तो ज्ञान की भिन्नता बतलाई परन्तु दूसरे जीवों से इस आत्मा का ज्ञान पृथक् है — ऐसा क्यों नहीं कहा?

उत्तर :- अध्यवसान है, वह ज्ञान नहीं है, इसमें उस बात का समावेश हो जाता है क्योंकि एक जीव अपने ज्ञान में जब दूसरे जीव को लक्ष्य में लेकर उसका विचार करता है, तब अध्यवसान

की ही उत्पत्ति होती है और अध्यवसान से ज्ञान को भिन्न कहा है, इससे परजीव के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान भी वास्तव में ज्ञान नहीं है — ऐसा उसमें आ जाता है।

सच्चे देव और सच्चे गुरु भी अन्य जीव हैं; इस आत्मा से उनका आत्मा पृथक् है। अपने आत्मा की ओर ज्ञान को उन्मुख किए बिना, दूसरे आत्मा का विचार करने में जो ज्ञान रुकता है, वह अध्यवसान है और वह अचेतन है। अपना स्वरूप जाने बिना ज्ञान, पर को जानने के लिए जाये तो वह पर में ही एकता मान लेता है, वह अध्यवसान है; उससे आत्मा का ज्ञान नहीं होता।

श्री देव-शास्त्र-गुरु का माहात्म्य और परमार्थ विनय

शास्त्रों में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के माहात्म्य का बहुत-बहुत वर्णन होता है परन्तु उनके लक्ष्य से ज्ञान को रोक रखने के लिए वह वर्णन नहीं है। स्त्री आदि विषय-कषाय के निमित्तों का माहात्म्य तथा कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु का माहात्म्य छुड़ाने, और जीव को अपना स्वच्छन्द छुड़ाने के लिए सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का माहात्म्य है। श्री देव-शास्त्र-गुरु तो आत्मा के चैतन्यस्वभाव का ही माहात्म्य बतलाते हैं। जो जीव अपने चैतन्यस्वभाव की महिमा को भूलकर मात्र देव-गुरु इत्यादि निमित्तों की महिमा करने में ही रुक जाता है, उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। वास्तव में तो अपने आत्मस्वभाव का आश्रय करने में ही श्री देव-गुरु की परमार्थविनय आती है क्योंकि श्री देव-गुरु ने जैसा कहा था, वैसा स्वयं अपने आत्मा में किया; इसलिए उसी में देव-गुरु की आज्ञा और परमार्थविनय आयी। पश्चात् जहाँ तक शुभराग हो, वहाँ तक सच्चे देव-गुरु के प्रति भक्ति-बहुमान-विनय और सर्वस्व अर्पणता के भाव आते हैं,

परन्तु आत्मा के भिन्नत्व के भान बिना निमित्त के आश्रय में रुक जाये तो आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेगा।

श्री देव-शास्त्र-गुरु तो ऐसा बतलाते हैं कि वस्तु का अनेकान्त स्वभाव है; आत्मा आत्मारूप है और अन्य देव-गुरु-शास्त्ररूप अथवा रागरूप नहीं है। एक आत्मा, दूसरे आत्मारूप नहीं है। यदि राग में एकाग्र होकर देव-गुरु-शास्त्र का विचार करे तो वह अध्यवसान है; अध्यवसान, अचेतन है।

चैतन्य के लक्ष्य बिना सब मिथ्या है

आजकल लोगों में जैनधर्म के नाम से जो बात चल रही है, उसमें मूल से ही अन्तर है। मूल आत्मस्वभाव की दृष्टि के बिना शास्त्रादि से हजारों बातें जान ले, परन्तु उनमें एक भी बात सत्य नहीं होती। पूर्व की मानी हुई सारी बातों को व्यर्थ समझकर यह बात सुने तो अन्तरंग में जम सकती है। जिस प्रकार कुम्हार एकसाथ मिट्टी लाकर उसमें से हजारों बर्तन बनाता है परन्तु यदि मिट्टी में चूने का कुछ अंश हो तो जब वह बर्तनों को भट्टी में डाले (अग्नि में पकाये), उस समय एक भी बर्तन साबुत नहीं रहता - सारी भट्टी को निकालकर फिर से मिट्टी लाकर बर्तन बनाना पड़ते हैं। उसी प्रकार चैतन्यतत्त्व के लक्ष्य बिना जो कुछ किया, वह सब सत्य से विपरीत होता है; सम्यग्ज्ञान की कसौटी पर कसने से उसकी एक भी बात सच्ची नहीं निकलती; इसलिए जिसे आत्मा में अपूर्व धर्म करना हो, उसे अपनी मानी हुई पूर्व की सभी बातें अक्षरश: मिथ्या थीं — ऐसा समझकर, ज्ञान की सम्पूर्ण उन्मुखता बदल देनी पड़ेगी। यदि अपनी पूर्व की बात को बनाये रखे और पूर्व की मानी हुई बातों के साथ इस बात को मिलाने जाये तो

अनादि की जो गड़बड़ी चली आ रही है, वह नहीं निकलेगी और यह अपूर्व सत्य समझ में नहीं आयेगा।

स्वभाव का सच्चा ज्ञान ही देव-गुरु-शास्त्र की परमार्थभक्ति

अनादि से अज्ञानी जीवों को मिथ्यामति-श्रुतज्ञान होते हैं और साधक ज्ञानी के सम्यक्मति-श्रुतज्ञान होते हैं, उन्हीं की बात यहाँ पर चल रही है। मिथ्याज्ञान दूर होकर सम्यग्ज्ञान किस प्रकार होता है? — उसका यह उपाय कहते हैं। अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर, दूसरे जीव का विचार करे तो वह श्रुत का अध्यवसाय है परन्तु सम्यक्श्रुतज्ञान नहीं है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, महिमा, पूजा, प्रभावना आदि के शुभराग से सम्यग्ज्ञान का विकास माननेवाले जीव के शुभराग और ज्ञान की एकता का अभिप्राय है, वह मिथ्या अध्यवसान है। श्री देव-गुरु-शास्त्र ने तो ज्ञान और राग को भिन्न बतलाकर ज्ञानस्वभाव का आश्रय करने को कहा है; जिस जीव ने वैसा न किया, उसने देव-गुरु-शास्त्र की परमार्थभक्ति नहीं की है। देव-गुरु-शास्त्र के राग का आश्रय छोड़कर, अपने आत्मस्वभाव का सच्चा ज्ञान करे, उस सच्चे ज्ञान में ही देव-गुरु-शास्त्र की परमार्थभक्ति और उनकी विनय का समावेश हो जाता है।

ज्ञान और राग का भेदज्ञान : अनेकान्त धर्म

आत्मा का ज्ञान, रागरूप नहीं है। जो राग में रुककर जानता है, उस ज्ञान को जो आत्मा का साधन मानता है, उस जीव को ज्ञान और राग में एकत्व की बुद्धि है। ज्ञान में राग नहीं है और राग में ज्ञान नहीं है; ज्ञान के आधार से राग नहीं है और राग के आधार से ज्ञान नहीं है — ऐसा समझना, वह अनेकान्त धर्म है परन्तु जो राग को ज्ञान का कारण मानता है, उसने ज्ञान और राग को भिन्न नहीं,

अपितु एक ही माना है, वह एकान्तवाद है, अधर्म है, मिथ्या अध्यवसाय है। ज्ञान को स्वभावोन्मुख करके एकाग्र होना, वह धर्म है।

राग और ज्ञान के भेदज्ञान से ही राग का अभाव

चैतन्यस्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई पर्याय - वह चैतन्य का स्वभाव है, और चैतन्यस्वभाव की ओर से लक्ष्य हटकर जिनेन्द्र भगवान, गुरु अथवा शास्त्र के लक्ष्य से जो ज्ञान हो, वह चेतन का स्वभाव नहीं है, और उससे संवर-निर्जरा नहीं होते। पर्याय में चेतनत्व-चेतन के साथ एकत्व हुए बिना संवर-निर्जरा कहाँ होंगे? और राग का अभाव किसके बल से होगा? यथार्थ चैतन्यस्वभाव की प्रतीति के बिना वास्तव में रागादि दूर नहीं होते और राग कम हुआ भी नहीं कहलाता। रागरहित स्वभाव की स्वीकृतिपूर्वक राग से आत्मा की भिन्नता जानकर जो राग कम हो, वह राग कम हुआ कहलाता है। जो राग को ही अपना स्वरूप मानता है, उसे राग कम हुआ कैसे कहा जाएगा?

आत्मज्ञान के लिए प्रयत्नशील जीव के राग अवश्य कम होता है

प्रश्न : प्रभो! आपने जो कहा कि 'आत्मा के ज्ञान बिना यथार्थतया रागादि कम नहीं होते;' इसलिए आत्मज्ञान न हो, तब तक हमें रागादि कम नहीं करना चाहिए?

उत्तर : भाई! यह बात तो सत्य है कि आत्मा के ज्ञान बिना वास्तव में रागादि कम नहीं होते, परन्तु इससे उसका तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा को समझने का प्रयत्न करना। अब, जो जीव आत्मस्वभाव को समझने का प्रयत्न करता है, उसके रागादि कम

हुए बिना नहीं रहेंगे, परन्तु जो राग कम हुआ, उसकी मुख्यता नहीं है, किन्तु आत्मज्ञान की मुख्यता है, यह नहीं भूलना चाहिए; अर्थात् मन्दराग को धर्म नहीं मानना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा को न समझे, तब तक तो स्वच्छन्दरूप से वर्तन करना चाहिए और ज्यों के त्यों तीव्र पाप करते रहना तथा विषय–कषाय बिल्कुल ही नहीं छोड़ना। पुण्य भी आत्मा का स्वरूप नहीं है – ऐसी बात जिसे रुचे, अर्थात् पुण्यरहित आत्मस्वभाव जिसे रुचे, वह जीव, पुण्य का आदर कैसे करेगा ? वैसे जीव को विषय–कषाय की रुचि नहीं होती। सत्–स्वभाव के प्रति और सत् निमित्तों के प्रति बहुमान आने से संसार की ओर का अशुभराग अत्यन्त मन्द हो जाता है। इसके बिना तो धर्मी होने की पात्रता भी नहीं होती।

जिसे आत्मा का ज्ञान न हुआ हो, उसे तो बहुत प्रयत्न करके अशुभरागादि को कम करके आत्मा को समझने का अभ्यास करना चाहिए। यदि ऐसा न करे और ज्यों का त्यों अशुभ में ही वर्तता रहे तो आत्मा की समझ कहाँ से होगी ?

देशनालब्धि के बिना धर्म नहीं

जो ज्ञान, स्वभाव से होनेवाली प्रवृत्ति न करे और कर्म के आश्रय से प्रवृत्ति करे, वह चेतन नहीं है। चेतनस्वभाव के आश्रय से जो उत्पन्न हो, वह चेतन है, और चेतनस्वभाव के आश्रय से जो भाव उत्पन्न न हो, वह अचेतन है। ऐसी आत्मस्वभाव की बात जगत के जीवों ने नहीं सुनी है, तब फिर अन्तर में विचार करके प्राप्त कहाँ से करेंगे ? और कैसे उनकी रुचि करके आत्मा में परिणमित करेंगे ?

परोन्मुख और स्वोन्मुख मति-श्रुतज्ञान का भिन्नत्व है — ऐसा समझकर स्व और पर का भेदज्ञान करके अन्तरस्वभावोन्मुख होता हुआ ज्ञान, वह अपूर्व आत्मधर्म है।

धर्म कैसे होता है ?

आत्मा को धर्म कैसे होता है ? अर्थात् आत्मा को शान्ति कैसे होती है ? उसकी बात चल रही है। कोई भक्ति में, कोई दया में, कोई पूजा में या दानादि में धर्म मान रहे हैं। मार्ग में चलते हुए भिखमंगे भी कहते हैं कि भाई! एक बीड़ी देना, आपको धर्म होगा! इस प्रकार जगत के जीव धर्म-धर्म रट रहे हैं परन्तु धर्म का यथार्थ स्वरूप क्या है ? वह वे नहीं जानते, इससे संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। यदि एक क्षणमात्र भी धर्म का सच्चा स्वरूप समझ लें तो वे जीव संसार में भ्रमण न करें। अपने को अपने आत्मा में अधर्म दूर करके धर्म करना है; इसलिए अपना आत्मस्वरूप जाने बिना किसी को धर्म नहीं होता।

आत्मा एक स्वतन्त्र पदार्थ है। जिस प्रकार लकड़ी, पुस्तक आदि पदार्थ दिखायी देते हैं; उसी प्रकार आत्मा भी एक पदार्थ है। लकड़ी आदि को जाननेवाला तत्त्व आत्मा है। लकड़ी अचेतन है और क्षणिक संयोगी है, परन्तु आत्मा असंयोगी है, अनादि-अनन्त ज्ञान-दर्शन स्वभाववाला है। उसकी अवस्था में धर्म कैसे हो ? पर के संग से अथवा पर के आधार से आत्मा का धर्म नहीं होता परन्तु अपना पूर्ण स्वभाव है, उसकी प्रतीति और आश्रय करने से धर्म होता है; इसलिए स्वयं कौन है ? और पर क्या है ? उसे समझ लेना चाहिए।

शरीर, मन, वाणी, लक्ष्मी, देव-गुरु-शास्त्र — यह समस्त

पदार्थ आत्मा से पर हैं-भिन्न हैं; उनसे तो इस आत्मा को धर्म या पुण्य-पाप नहीं होते। आत्मा की अवस्था में जो पुण्य -पाप हो, वह भी आत्मा के चेतनस्वभाव से पर है-अचेतन है -विकार है; उसके आधार से भी धर्म नहीं होता। इन सबसे रहित अपना ज्ञानस्वभाव है, उस स्वभाव के साथ पर्याय की एकता करने से ही धर्म होता है - यह बात यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं।

विकार और पर जीवों से ज्ञान का भिन्नत्व

स्वभाव में ज्ञान की एकता कराने के लिए यहाँ आचार्यदेव, ज्ञान का पर से भिन्नत्व बतलाते हैं। अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिए ज्ञान और अध्यवसान में भिन्नता है। कर्म के उदय की प्रवृत्ति में युक्त होने से आत्मा की वर्तमान अवस्था में जो पुण्य-पाप होते हैं, वह विकारभाव है, उसे अध्यवसान कहते हैं। वह धर्म का कारण नहीं है, क्योंकि वह अध्यवसान ज्ञान से भिन्न है। प्रथम पाँच अजीव द्रव्यों से ज्ञानस्वभाव पृथक् बतलाया; अब अन्तरंग में जो विकारभाव होते हैं, उनसे भिन्नत्व बतलाते हैं।

यहाँ किसी को **प्रश्न** उठे कि 'परजीवों से इस आत्मा का ज्ञान भिन्न है - यह बात क्यों नहीं कही ?'

उसका उत्तर - अध्यवसान से भिन्न कहा, उसी में परजीवों से भी इस आत्मा का ज्ञानस्वभाव पृथक् है, यह बात भी आ जाती है क्योंकि परजीवों के लक्ष्य से अध्यवसान की ही उत्पत्ति होती है; इसलिए अध्यवसान से भिन्नत्व कहने से अन्य जीवों से भी भिन्नत्व समझ लेना चाहिए।

शुभ-अशुभराग, आत्मा की जाति नहीं, और न धर्म का कारण

आत्मा के ज्ञानस्वभाव से बाहर लक्ष्य जाने से जो भाव होते हैं, वे आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध भाव हैं, वे भाव आत्मा की अवस्था में होते हैं, परन्तु वे विकार हैं; ज्ञानस्वभाव से भिन्न हैं, इसलिए धर्म के कारण नहीं हैं। अन्तरंग में पैसा कमाने के भाव अथवा खाने-पीने आदि के भाव, वे पापभाव हैं और दया-दान-भक्ति आदि के भाव, पुण्यभाव हैं; वे दोनों भाव अध्यवसान हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि वह अध्यवसान, अचेतन हैं, उसमें ज्ञान नहीं है, दर्शन नहीं है, चारित्र नहीं है, धर्म नहीं है, सुख नहीं है। आत्मस्वभाव उस अध्यवसान से पृथक् हैं। अज्ञानीजन उस अध्यवसान को आत्मा मानते हैं और उससे धर्म मानते हैं, वह उनका मिथ्यात्व है। पुण्य-पाप के भाव तो चैतन्य की जागृति को रोकते हैं; इसलिए वे अचेतन हैं। जिसके ज्ञान में आत्मा का चैतन्यस्वभाव नहीं आता, वह जीव, अचेतन पुण्य-परिणामों को आत्मा मानता है; यहाँ ज्ञानस्वभाव को उन पुण्य-पाप से भिन्न समझाकर भेदविज्ञान कराते हैं।

जैसे – जिस पेटी में सोना रखा हो, उस पेटी से तो सोना पृथक् ही है और सोने के साथ जो ताँबे का भाग है, वह सोने के साथ एकमेक जैसा लगता है, तथापि सोना तो उससे भी पृथक् है; उसी प्रकार यह शुद्ध चैतन्यस्वरूपी भगवान आत्मा, शरीर-मन-वाणी -पैसा आदि जड़ से तो पृथक् ही है, और पर्याय में जो राग-द्वेषादि विकारभाव हैं, उनसे भी वास्तव में पृथक् ही है। अज्ञानी को राग और ज्ञान एकमेक मालूम पड़ता है परन्तु ज्ञान तो राग से पृथक् ही है। ज्ञान तो सबको जानता ही है, इसलिए वह आत्मा है, और राग

–द्वेषादि भाव कुछ भी नहीं जानते, इसलिए वे अचेतन हैं; आत्मा से पृथक् हैं, आत्मा के धर्म में वे बिल्कुल सहायता नहीं करते। शुभ या अशुभ राग–द्वेष, आत्मा की जाति नहीं है परन्तु आत्मस्वभाव से विरुद्ध जाति है; वह आत्मा को धर्म का कारण नहीं है क्योंकि स्वयं अधर्म है। इस प्रकार स्वभाव को और रागादि भावों को भिन्न जानकर, अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होना, वह धर्म है।

हिंसा, चोरी, विषय–भोगादि पापभावों की अपेक्षा तो दया, ब्रह्मचर्यादि भाव ठीक हैं; पाप की अपेक्षा से उन्हें पुण्य कहा जाता है परन्तु उस पुण्य को धर्म का कारण माने तो मिथ्यात्वरूप महापाप होता है। कोई जीव, पाप छोड़कर पुण्य करे और उसे धर्म माने तो उस जीव को मिथ्यात्व के महापाप में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा है, परन्तु इससे ज्ञानी पुण्य छोड़कर पाप में जाने के लिए नहीं कहते हैं, अपितु पुण्य–पाप से रहित स्वभाव की अपूर्व प्रतीति करने को कहते हैं। पाप छोड़कर पुण्य अनन्त बार किए, वह अपूर्व नहीं है परन्तु पुण्य–पाप से रहित ज्ञानस्वभाव अनादि काल से कभी नहीं समझा, उसे समझ लेना अपूर्व धर्म है।

अज्ञानी और सम्यग्ज्ञान

पैसा, शरीरादि को अपना माने, और उनका मैं कर सकता हूँ — ऐसा माने, वह जीव तो महान स्थूल अज्ञानी है; रागादि भावों को आत्मा माने, वह भी अज्ञानी है और उस राग की ओर ढलते हुए ज्ञान जितना आत्मा को माने तो वह भी अज्ञानी है। राग में रुकनेवाला जो ज्ञान है, वह आत्मा नहीं है परन्तु स्वभाव में स्थिर होनेवाला जो ज्ञान है, वह आत्मा है। यहाँ द्रव्य–पर्याय की अभेदता

से निर्मलपर्याय को आत्मा कहा है क्योंकि निर्मलपर्याय और आत्मा अभेद हैं।

शरीर के हलन-चलन की या लक्ष्मी के आने-जाने की क्रियाएँ तो आत्मा नहीं करता; आत्मा लक्ष्मी आदि में ममताभाव करे, वह पाप है और तृष्णा को कम करे, वह पुण्य है; वे पुण्य-पाप के भाव, कर्म नहीं कराता परन्तु आत्मा अपनी अवस्था में करता है, तथापि वे पुण्य-पाप के भाव, आत्मा के ज्ञानस्वभाव से पृथक् हैं; इसलिए अचेतन हैं और इसी से उन पुण्य-पाप के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान भी आत्मस्वभाव नहीं है। उन सबका लक्ष्य छोड़कर, परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर, पूर्ण स्वभाव के विश्वास से ज्ञान प्रगट हो, वह सम्यग्ज्ञान है, वह आत्मा के साथ एकत्व रखता है और वह मोक्ष का कारण है।

पाप और पुण्य - दोनों की एक ही जाति

पाप की अपेक्षा पुण्य में मन्दकषाय है परन्तु वह भी कषाय का ही प्रकार है। पुण्यभाव में धर्म नहीं है। जिस प्रकार पाप, अधर्म है, उसी प्रकार पुण्य भी निश्चय से अधर्म है।

जिसके चैतन्य का पुरुषार्थ नहीं, वह नपुंसक है

जो वस्तु आत्मा से पृथक् हो, उससे आत्मा को लाभ नहीं होता और उस परवस्तु के लक्ष्य से भी आत्मा को लाभ नहीं होता। आत्मा के स्वभाव के लक्ष्य से ही आत्मा को लाभ होता है। लाभ कहो, शान्ति कहो, हित कहो, सुख कहो अथवा धर्म कहो — सब एकार्थ हैं। बाह्य में अनुकूल संयोग आएँ, उसे अज्ञानी जीव लाभ मानते हैं और उन पदार्थों में सुख मानते हैं परन्तु अपने स्वभाव में सुख है, उसे नहीं मानते। मुझमें सुख नहीं है और पैसे में सुख —

ऐसा माननेवाले जीव अपने को निर्माल्य-पुरुषार्थहीन मानते हैं। अपने स्वभावसामर्थ्य को जानने का पुरुषार्थ न करनेवाले और पर में सुख माननेवाले जीवों को आचार्यदेव नपुंसक कहते हैं। पुरुष तो उसे कहते हैं, जो स्वभाव का पुरुषार्थ प्रगट करे। जो शुद्ध आत्मस्वभाव को नहीं जानते, उन्हें नामर्द कहा है। आत्मा के असाधारण लक्षण को नहीं जानते, उन्हें नपुंसक कहा है। आत्मा में ही आनन्दसामर्थ्य है, परन्तु उस आनन्द का उपभोग करने की शक्ति जिनमें नहीं है, वे जीव, पर में आनन्द मानते हैं और पर विषयों को देखकर सन्तुष्ट होते हैं, वह नामर्दी का चिह्न है। स्वभाव की श्रद्धा नहीं करते और पर में सुख मानते हैं, उनके चैतन्य पुरुषार्थ नहीं है।

आत्मा स्वयं पुरुष है; अनन्त गुणों में रहकर आनन्द का स्वतन्त्ररूप से उपभोग करनेवाला पुरुष है, चैतन्यस्वभावी भगवान है, पुरुषार्थ का सागर है; उसके असाधारण चैतन्यस्वभावा का जो अनुभव नहीं करता और पर्याय में पुण्य-पाप होते हैं, उन्हीं को धर्म मानता है, वह जीव, चैतन्यपुरुषार्थ से रहित नपुंसक है।

भवभ्रमण दूर करने का उपाय

आत्मा का चैतन्यस्वभाव पर से भिन्न है और पुण्य-पापरूप अध्यवसान से भी पृथक्, साक्षीस्वरूप ज्ञाता है — ऐसे अपने आत्मा की जिसे श्रद्धा नहीं है-विश्वास नहीं है-खबर नहीं है, वह जीव 'मैं पर का कर सकता हूँ' — ऐसा मानता है और पुण्य-पापादि अध्यवसान को ही आत्मा मानता है। आत्मा स्वयं भगवान, चैतन्य प्रकाश की मूर्ति है, चैतन्यता से उसकी महिमा है। जो क्षणिक विकार होता है, वह चैतन्य की जाति नहीं है। उस विकार

से जो अपने को लाभ मानता है अथवा विकार को आत्मा मानता है, उस जीव का ज्ञान, विकार को जानने में ही रुक जाता है परन्तु विकार से छूटकर वह अपने ज्ञान को स्वभावोन्मुख नहीं करता और इससे उसे धर्म नहीं होता–भवभ्रमण नहीं टलता। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि अपने आत्मस्वभाव को समस्त अन्य द्रव्यों से और उनके निमित्त से होनेवाले अन्य भावों से वास्तव में पृथक् देखना–अनुभव करना, यही भवभ्रमण टालने का उपाय है।

अज्ञानी का पागलपन

ज्ञानमूर्ति आत्मा समस्त परद्रव्यों से भिन्न है। परद्रव्यों से भिन्न कहने से रागादि भावों से भी भिन्न समझना चाहिए। यहाँ रागादि को भी परद्रव्य में गिना है। आत्मा के स्वभाव से रागादि नहीं होते परन्तु परद्रव्य के निमित्त से होते हैं; इसलिए वे भी परद्रव्य हैं। अज्ञानी जीव उन्हें अपना स्वरूप मानता है। जिस प्रकार किसी को पागल कुत्ते ने काटा हो और उसका विष चढ़ गया हो, उसे मरने की तैयारी होने पर पागलपन होता है; उसी प्रकार अज्ञानी को मिथ्यात्वरूपी पागलपन लागू हो गया है, इससे वह बावरा हुआ है। स्वद्रव्य और परद्रव्य का स्वरूप क्या है? उसका भान भूल गया है; उसे अपने चैतन्य की खबर नहीं है और बाह्य में सुख के लिए दौड़ रहा है। उसे यहाँ समझाते हैं कि भाई! आत्मा की परद्रव्यों से और पुण्य–पाप से भिन्नता है। पर को और पुण्य–पाप को जानते हुए वहीं रुक जाये — ऐसा तेरे ज्ञान का स्वरूप नहीं है। अपने परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव में एकता करके जानना — ऐसा तेरे ज्ञान का स्वरूप है; उस स्वरूप को तू देख!

विकार, आत्मा का स्वरूप नहीं है

जो आत्मस्वरूप हो, वह कभी आत्मा से पृथक् नहीं होता। शुभ या अशुभ विकारभाव, आत्मा का स्वरूप नहीं हैं; इसलिए वे आत्मा से अलग हो जाते हैं, अर्थात् उनका नाश हो जाता है। ज्ञान, आत्मा का स्वरूप है, उसका कभी नाश नहीं होता। विकारीभाव, आत्मवस्तु के आश्रय से नहीं होते हैं; वे भाव, आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। विकारीभावों का सम्पूर्ण अभाव होकर ज्ञान पूर्ण रह जाता है परन्तु ज्ञान का कभी भी सर्वथा अभाव नहीं होता क्योंकि ज्ञान ही आत्मा का स्वभाव है; विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है। ●●

वैसा ही तेरा स्वरूप है

भाई, प्रभु! तू कैसा है, तेरी प्रभुता की महिमा कैसी है, इसे तूने नहीं जाना है। तू अपनी प्रभुता के भान बिना बाहर में जिस-तिस के गीत गाया करता है, तो उसमें तुझे अपनी प्रभुता का लाभ नहीं है। तूने पर के गीत तो गाये परन्तु अपने गीत नहीं गाये। भगवान की प्रतिमा के सामने कहता है कि 'हे नाथ, हे भगवान! आप अनन्त ज्ञान के स्वामी हो।' वहाँ सामने से वैसी ही प्रतिध्वनि आती है कि 'हे नाथ, हे भगवान! आप अनन्त ज्ञान के स्वामी हो...' तात्पर्य यह है कि जैसा परमात्मा का स्वरूप है, वैसा ही तेरा स्वरूप है, उसे तू पहचान।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

भेदविज्ञान के लिए प्रेरणा

आत्मा का सर्व परद्रव्यों से भिन्न अनुभवन करना चाहिए

इस प्रकार आत्मा के ज्ञानस्वभाव को समस्त पर से भिन्न देखना चाहिए। किस प्रकार देखना चाहिए? — पूर्ण ज्ञानस्वभाव है, वह मैं हूँ, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भाव मैं नहीं हूँ — ऐसा समझकर, परोन्मुख होते हुए अपने ज्ञान को स्वभावोन्मुख करके शुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिए। मैं चिदानन्दस्वरूप हूँ, रागादि कोई भी भाव मेरे नहीं हैं; परद्रव्यों अथवा परभावों के आश्रित मेरा ज्ञान नहीं है। इस प्रकार पर से भिन्नत्व जानकर, वहाँ से ज्ञान को हटाकर, आत्मस्वभाव के आश्रय से ज्ञान को एकाग्र करके अनुभव करना, वह अनन्त काल में न किया हुआ — ऐसा अपूर्व आत्मधर्म है। चतुर्थ गुणस्थान में मति-श्रुतज्ञान से ऐसा अनुभव होता है।

आत्मा का किसके बिना नहीं चलता?

प्रत्येक वस्तु स्वाधीनरूप से अपना कार्य कर रही है। कभी कोई वस्तु दूसरे के साथ मिलकर कार्य नहीं करती। कभी किसी परवस्तु के कारण आत्मा का निर्वाह नहीं होता; परद्रव्यों का तो आत्मा में अभाव ही है। अज्ञानी जीव को स्व-पर में एकत्वबुद्धि होने से वह ऐसा मानता है कि मेरा परवस्तु के बिना नहीं चल सकता, परन्तु ऐसा माननेवाला अज्ञानी जीव भी प्रतिक्षण परवस्तु

के बिना ही चला रहा है। पैसा, शरीरादि पदार्थ न हों, उस समय क्या आत्मा का परिणमन रुक जाता है ? अथवा आत्मा का नाश हो जाता है ? ऐसा तो कभी नहीं होता। आत्मा का ज्ञान सदैव अपने स्वभाव से ही परिणमित होता है और आत्मा सदैव ज्ञान से ही जीवित रहता है। यदि ज्ञान न हो तो आत्मा ही न हो, अर्थात् ज्ञान के बिना आत्मा का एक पल भी नहीं चल सकता। परद्रव्य और राग के बिना भी आत्मा का चलता है। सिद्ध भगवान को कहीं परद्रव्य का संयोग या राग नहीं है, अकेले ज्ञान से ही उनका आत्मा स्थित है। प्रत्येक आत्मा सदैव अपने ज्ञानस्वभाव से और पर के अभाव से ही स्थित रहता है। इस प्रकार धर्मार्थी जीवों को अपने आत्मा का सर्व पर से भिन्न ज्ञानस्वभावरूप निर्णय करना चाहिए। ज्ञानस्वभावोन्मुख होकर सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करूँ, वह मेरा स्वरूप है। पर से मुक्त और विकार से भी मुक्त — ऐसा मेरा परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है। उस स्वभाव के आश्रय से जानना मेरा स्वरूप है; इस प्रकार अपने आत्मा का अनुभव करना ही अनन्त काल के जन्म-मरण से छूटने का एकमात्र उपाय है।

अधर्म क्या है और वह कैसे दूर होता है ?

अपना ज्ञानस्वभाव रागरहित है; जिसे अपने ज्ञानस्वभाव का अनुभव नहीं है, वह जीव, राग को अपना स्वरूप मानकर राग का कर्ता होता है और जो राग का कर्ता होता है, वह जीव ऐसा मानता है कि मेरे राग के कारण परद्रव्य में कार्य होता है..... अर्थात् मैं पर का कर्ता हूँ। ऐसी विपरीतमान्यता में ज्ञान, राग और परद्रव्य में एकताबुद्धि है, वही महान अधर्म है। वह अधर्म कैसे दूर होता है ? उसका उपाय यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं। राग से और पर से भिन्न

ज्ञानस्वभाव है, उसे पहिचाने तो राग और परद्रव्य में एकत्वबुद्धि टले तथा ज्ञान अपने स्वभावरूप हो, उसी का नाम धर्म है।

जीव का कर्तव्य

जीव के राग का कार्य पर में नहीं होता। स्त्री, पुत्रादि जब मृत्युशय्या पर पड़े हों, तब यदि 'वे बच जायें तो अच्छा हो', इस प्रकार स्वयं अत्यन्त राग करता है, तथापि वे मर जाते हैं; अपने राग के कारण उसमें कुछ भी फेरफार नहीं होता। स्वयं तो पर से भिन्न हैं। स्वयं अपने में राग कर सकता है परन्तु पर में कुछ नहीं कर सकता — ऐसा यदि यथार्थरूप से समझे तो पर की ओर से हटकर अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख हो और राग का भी कर्ता न हो।

हे भाई! तुझे प्रत्यक्ष दिखायी देता है कि तेरा राग, पर में कुछ भी नहीं कर सकता। जिस प्रकार पर के लिए तेरा राग व्यर्थ है, उसी प्रकार वह राग स्वयं आत्मा को भी कोई लाभ नहीं करता। यदि स्त्री-पुत्र-शरीरादि पदार्थ तेरे हों, तो उन पर तेरा अधिकार क्यों नहीं चलता? तेरी इच्छानुसार ही वे पदार्थ परिणमित क्यों नहीं होते? इसलिए तू अपने ज्ञान में ऐसा निर्णय कर कि मेरा ज्ञानस्वरूप समस्त परपदार्थों से भिन्न है; परपदार्थों की ओर की उन्मुखता से राग की उत्पत्ति होती है, उससे भी भिन्न है, और परोन्मुख होकर जो ज्ञान, राग में अटक जाता है, उससे भी मेरा ज्ञानस्वरूप पृथक् है — ऐसा जानकर, अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा की ओर उन्मुख हो, उसी का अभ्यास कर, उसी की रुचि-मंथन -श्रद्धा और अनुभव कर! निरन्तर यही करने योग्य है।

इस प्रकार आत्मा को सर्व पर से भिन्न बतलाकर आचार्यदेव ने उसका अनुभव करने की प्रेरणा की है। ●●

जीव से ज्ञान की अभिन्नता

अब, जीव ही एक ज्ञान है, क्योंकि जीव चेतन है; इसलिए ज्ञान के और जीव के अव्यतिरेक (अभेद) है और ज्ञान का जीव के साथ व्यतिरेक किञ्चित् मात्र भी शङ्का करने योग्य नहीं है (अर्थात् ज्ञान की जीव से भिन्नता होगी ऐसी जरा भी शङ्का करने योग्य नहीं है), क्योंकि जीव स्वयं ही ज्ञान है। ऐसा (ज्ञान जीव से अभिन्न) होने से, ज्ञान ही सम्यक्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म (अर्थात् पुण्य -पाप) है, ज्ञान ही प्रव्रज्या (दीक्षा, निश्चय-चारित्र) है — इस प्रकार ज्ञान का जीव पर्यायों के साथ भी अव्यतिरेक निश्चयसाधित देखना (अर्थात् निश्चय द्वारा सिद्ध हुआ समझना-अनुभव करना) चाहिए।

जीव के साथ ज्ञान की एकता

परद्रव्यों से आत्मा भिन्न है — ऐसा बतलाया; तो फिर आत्मा अपने स्वरूप से कैसा है ? वह अब बतलाते हैं। आत्मा का ज्ञान, स्पर्शादि से भिन्न, धर्म-अधर्म-आकाश-काल से भिन्न और पुण्य -पाप से भी बिल्कुल भिन्न है — ऐसा बतलाया। अब, ज्ञान अपने आत्मा से किंचित् भिन्न नहीं है, परन्तु एकमेक है-अभेद है —

ऐसा बतलाते हैं। प्रथम नास्ति अपेक्षा से (पर के साथ व्यतिरेकपने से) ज्ञान का स्वरूप बतलाया; अब अस्ति अपेक्षा से अपने साथ अन्वयपने से ज्ञान का स्वरूप बतलाकर आत्मा की पहचान कराते हैं — 'जीव ही एक ज्ञान है क्योंकि जीव चेतन है; इसलिए ज्ञान का और जीव का अव्यतिरेक (अभिन्नत्व) है।'

किस ज्ञान को जीव के साथ एकता है?

जीव ही चेतन है। जो ज्ञान, जीवस्वभाव की ओर ढलकर जीव के साथ अभेद हो, वह ज्ञान ही चेतन है और वह स्वयं जीव है। शरीरादि परवस्तुएँ तो जड़ हैं, उनमें ज्ञान नहीं है; पुण्य-पापभाव भी चेतन नहीं है और परलक्ष्य में रुककर होनेवाला ज्ञान का क्षणिक विकास भी चेतन नहीं है। जिस ज्ञान से आत्मा को लाभ नहीं होता और जो ज्ञान, आत्मा के लक्ष्य से एकाग्र नहीं होता, वह ज्ञान, आत्मा का स्वरूप नहीं है; इसलिए परमार्थतः वह ज्ञान, आत्मा से भिन्न है। पर के लक्ष्य से राग की मन्दता होकर जो ज्ञान विकसित हुआ, उसमें चैतन्यस्वभाव का परिणमन नहीं है परन्तु कषायचक्र का परिणमन है; वह ज्ञान कषाय से पृथक् नहीं हुआ है। पर का कुछ करने की बुद्धिपूर्वक जो बाह्यकला विकसित होती है, उससे आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं होता, वह कला आत्मा की नहीं है। आत्मा की चैतन्यकला उसे कहते हैं कि जो ज्ञान, आत्मा के साथ एकता करके आत्मा को केवलज्ञान प्राप्त कराये परन्तु जो ज्ञान, राग के साथ एकता करता है, वह तो मिथ्याज्ञान है और वह संसार का कारण है। ज्ञानी-धर्मी किसी जड़ पदार्थ को, विकार को या अपूर्ण ज्ञान को अपना स्वरूप नहीं मानते, और न उसके आश्रय में रुकते हैं। ज्ञानी अपने स्वभाव का ही आश्रय करते हैं। स्वभाव का आश्रय करके जो ज्ञान विकसित

हुआ, वह ज्ञान, आत्मा के साथ ही अभेद होता है; ज्ञान की और जीव की एकता है।

धर्मी-अधर्मी का माप करने की रीति

प्रश्न : आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह पर का कुछ नहीं कर सकता — ऐसा सुनने और समझनेवाले भी, व्यापार-धन्धा अथवा घरबार छोड़कर त्यागी तो हो नहीं जाते? जैसा व्यापार-धन्धा हम करते हैं, वैसा ही यह सुननेवाले भी करते हैं, तब फिर हममें और उनमें क्या अन्तर हुआ?

उत्तर : बाह्यदृष्टि से देखनेवाले अनेक जीवों को उपरोक्त प्रश्न उठता है, उसका उत्तर समझने की मुख्य आवश्यकता है। जिन जीवों को स्वयं सत्य नहीं समझना है और दूसरे जो जीव सत्य को समझ रहे हों, वे हमारी अपेक्षा कुछ अच्छा कर रहे हैं — ऐसा नहीं मानना है — ऐसे जीव अपने स्वच्छन्द की पुष्टि के लिए बचाव करते हैं कि सत्य को समझनेवाले भी हमारे ही जैसे हैं। स्वयं अन्तरंग भावों को तो समझते नहीं है, इस कारण बाह्य संयोग देखकर उन पर से धर्म का माप निकालते हैं। ऐसे जीवों को शास्त्र में बहिरात्मा कहा जाता है; ऐसे बहिरात्मा को ही उपरोक्त प्रश्न उठता है। उसका यहाँ समाधान करते हैं —

'जैसा व्यापार-धन्धा हम करते हैं, वैसा ही सत्य सुननेवाले भी करते हैं' — ऐसा प्रश्न किया है, परन्तु भाई! सबसे पहली मूल बात तो यह है कि बाह्य में व्यापार-धन्धा आदि कोई भी जड़ की क्रियाएँ तो तू भी नहीं करता और दूसरे आत्मा भी नहीं करते। ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी आत्मा, जड़ की क्रिया तो करता ही नहीं; मात्र अन्तरंगभाव करता है, और उन अन्तर के भावों से ही धर्म-अधर्म

का माप हो सकता है; बाह्य संयोगों से धर्म-अधर्म का माप नहीं हो सकता है। कोई जीव व्यापार-धन्धा, घरबार सब कुछ छोड़कर और नग्न होकर जंगल में रहे, तथापि महान अधर्मी होता है और अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है और किसी जीव के बाह्य में व्यापार-धन्धा या राजपाट का संयोग हो, तथापि अन्तर में आत्मस्वभाव का भान है-प्रतीति है, तो वैसा जीव महान धर्मात्मा और एकावतारी अथवा उसी भव में मुक्ति प्राप्त करनेवाला भी होता है ! इसलिए अन्तरंग भावों को देखना सीखना चाहिए; बाह्य से धर्म का माप नहीं होता है।

बाह्य संयोग समान होने पर भी एक को प्रतिक्षण धर्म और दूसरे को प्रतिक्षण पाप

सत्य सुनने तथा समझनेवाले जीवों को और सत्य न सुनने-समझनेवाले जीवों को बाह्य में व्यापारादि समान हों, तथापि सत्य समझनेवाले जीव को उस समय आत्मस्वभाव का भान है, अपने आत्मा की राग से भिन्न श्रद्धा करता है और बाह्य कार्यों को मैं कर सकता हूँ — ऐसा नहीं मानता; इसलिए उसके राग-द्वेष अत्यन्त अल्प होते हैं; और उस समय भी राग से भिन्न आत्मा की श्रद्धा होने के कारण उसे धर्म होता है। राग-द्वेष का पाप अत्यन्त अल्प है और जिसे सत्य की दरकार नहीं है — ऐसा जीव व्यापारादि जड़ की क्रिया को अपना मानता है और उसके कर्तृत्व का अभिमान करता है, इससे उसे अज्ञान का महान पाप प्रतिक्षण बँधता है। इस प्रकार बाह्य संयोग समान होने पर भी, अन्तरंग में आकाश-पाताल जितनी महान असमानता है। संयोगदृष्टि से देखनेवाले जीव उस भिन्नता को किस प्रकार समझेंगे ?

धर्मी जीव को किसका त्याग होता है ?

लोगबाग शीघ्र बाह्य त्याग करना चाहते हैं, परन्तु परपदार्थ तो आत्मा से त्रिकाल भिन्न ही हैं। परपदार्थ कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो गये हैं कि आत्मा उनका त्याग करे; पहले अज्ञानभाव से परद्रव्यों को अपना मानता था और उनका अहंकार करता था, परन्तु सच्ची समझ होने से ऐसा जाना कि आत्मा सर्व पर से पृथक् है, इससे तीनों लोक के सर्व पदार्थों में से अपनेपन की विपरीत मान्यता छोड़ दी, वही मिथ्यात्वरूप अधर्म का त्याग है; यह त्याग अज्ञानी को दिखायी नहीं देता। बाह्यत्याग या ग्रहण आत्मा नहीं करता; अन्तर में सत्यभावों का ग्रहण और मिथ्याभावों का त्याग करे, वह धर्म है।

सत्य का स्वीकार और अस्वीकार करनेवाले जीवों में महान अन्तर

सत्य को समझने की जिज्ञासावाले जीव, सत्य का स्वीकार करके उसका आदर करते हैं, उसकी रुचिपूर्वक समझने के लिए प्रयत्न करते हैं, और उसके लिए निवृत्ति लेकर सत्समागम करते हैं; जब कि दूसरे जीवों को सत्य समझने की दरकार नहीं है, सत्य की रुचि नहीं है, और उल्टा सत्य का अनादर करते हैं। देखो! दोनों के अन्तरंग परिणामों में कितना फेर है! बाह्य संयोग समान होने पर भी एक को सत्य की जिज्ञासा है और दूसरे को उसकी उपेक्षा है, तो क्या उनमें अन्तर नहीं पड़ा? एक जीव, सत्य का श्रवण-मनन-भावना करने में दिन का अमुक भाग निवृत्ति लेता है और दूसरा जीव बिल्कुल निवृत्ति नहीं लेता, तो फिर क्या पहले जीव ने उतने राग का त्याग नहीं किया? श्री

पद्मनन्दि आचार्यदेव कहते हैं कि चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात सुनकर रुचिपूर्वक उसका स्वीकार करनेवाला जीव भविष्य में मुक्ति प्राप्त करनेवाला है।

एक जीव सत्य की रुचिपूर्वक 'हाँ' कहता है और दूसरा 'ना' कहता है तो दोनों में कितना अन्तर है ? सत्य को स्वीकार करनेवाला जीव, अपनी मान्यता में तीनों काल के सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करता है और अस्वीकार करनेवाला जीव, अपनी मान्यता में तीन काल के असत्य का ग्रहण और सत्य का त्याग करता है, यह अन्तरंग ग्रहण-त्याग, अज्ञानियों को दिखायी नहीं देता और बाह्य पदार्थों के ग्रहण-त्याग का अभिमान करते हैं।

बाह्य संयोगों में रहनेवाले धर्मी क्या करते हैं ?

श्रीमद् राजचन्द्रजी ज्ञानी पुरुष थे, उन्हें आत्मस्वभाव का भान था, तथापि गृहस्थाश्रमी थे; बाह्य में लाखों का हीरे-जवाहरात का व्यापार होता था परन्तु उस समय उनके आत्मा में पर का स्वामित्व किंचित् भी नहीं था। अन्तर में से शरीरादि का स्वामित्व उड़ गया था; अल्पराग था, उसके भी स्वामी नहीं होते थे; रागरहित स्वभाव के आश्रय से उन सबका ज्ञान ही करते थे। बाह्य में व्यापारादि की क्रिया बाह्य कारणों से होती थी; अपने को पर्याय की निर्बलता से अल्प राग होता था परन्तु उस समय भी एक क्षणमात्र को चैतन्य के स्वामित्व से च्युत नहीं होते थे और राग का या पर का कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते थे। अज्ञानी जीवों को तो वे बाह्य क्रियाएँ और राग करते हुए दिखायी देते हैं परन्तु ज्ञानी के अन्तरस्वभाव की उन्हें खबर नहीं पड़ती। ज्ञानी तो अपने परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव के स्वामी हैं, और उस समय स्वभाव के आश्रय से प्रतिक्षण प्रति

पर्याय में उनके ज्ञान की विशुद्धता होती रहती है। ज्ञानी, ज्ञानस्वभाव की एकता के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं करते।

पर का ग्रहण-त्याग किसी के नहीं

इस जगत में कौन-सा जीव, पैसादि वस्तुओं को प्राप्त कर सकता है ? और कौन-सा जीव उन्हें छोड़ सकता है ? 'मैंने पैसा कमाया और मैंने पैसे का त्याग किया' — इस प्रकार मूढ़ जीव मात्र अहंकार करता है। अज्ञानी जीव भी परद्रव्यों में कुछ नहीं करता; हाँ, वह जीव अपने में ममत्व को कम या अधिक करता है। परमार्थ से तो ममत्वभाव का ग्रहण-त्याग आत्मस्वभाव में नहीं है।

अज्ञानी बाह्यत्यागी होने पर भी अधर्मी और ज्ञानी गृहस्थ होने पर भी धर्मी

जो जीव, परद्रव्य का स्वामी होता है, वह अचेतन का स्वामी होता है। अज्ञानी जीव बाह्य में सब कुछ छोड़कर जंगल में जाकर रहे, इससे उसके अन्तर में से परवस्तु का स्वामित्व हट गया है — ऐसा नहीं समझना चाहिए और ज्ञानी को बाह्य में लक्ष्मी आदि का संयोग हो, इससे उसे परद्रव्य का स्वामित्व है — ऐसा नहीं समझना चाहिए। ज्ञानी जीव गृहस्थाश्रम में होने पर भी वह चैतन्य का ही स्वामी है, इससे वह धर्मी है और बाह्यत्यागी अज्ञानी जीव, पर के त्याग का अहंकार करता है-अभिमान करता है कि मैंने परद्रव्य को छोड़ा है, उस जीव की मान्यता में अनन्त परद्रव्यों का स्वामित्व विद्यमान है, इससे वह अधर्मी है।

जिज्ञासु जीव की पात्रता और अन्तर की अपूर्व धर्मक्रिया

'आत्मा परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप है, पुण्य-पाप के आश्रय से आत्मा

को लाभ नहीं है; परवस्तुएँ आत्मा से बिल्कुल भिन्न हैं, आत्मा उनका कुछ भी नहीं कर सकता' — इस प्रकार ज्ञानी के पास से जो सत्य को समझने की जिज्ञासा करता है, उस जीव के राग की बहुत कुछ मन्दता हो गयी है। बारम्बार वीतरागस्वभाव का श्रवण करने से उसका अस्वीकार नहीं करता और रुचिपूर्वक स्वभाव को समझने के लिए समय व्यतीत करता है, उस जीव को प्रतिक्षण मोह की मन्दता होती जाती है। दूसरे जीव को सत्स्वभाव की बात ही रुचिकर नहीं लगती, अपितु अरुचि होती है, उसके मोह की दृढ़ता होती जाती है।

जिसे निवृत्तस्वरूप रागरहित आत्मस्वभाव की बात का बारम्बार परिचय करना अच्छा लगता है तो उस जीव को अन्तर में वीतरागता और निवृत्ति रुचिकर प्रतीत हुई है अथवा नहीं ? और उतने अंश में राग से तथा संसार से उसकी रुचि छूट गयी है या नहीं ? बस, इसमें स्वभाव के लक्ष्य से तीव्रकषाय छूटकर मन्दकषाय हो गयी, वह शुभक्रिया है; उस शुभ से भी आत्मस्वभाव अलग वस्तु है। इस प्रकार बारम्बार रागरहित स्वभाव की भावना करने से स्वभाव की ओर ज्ञान की अंशतः एकाग्रता होती जाती है, उतनी ज्ञानक्रिया है; वह रागरहित है और धर्म का कारण होती है। इस प्रकार स्वभाव की रुचि का मंथन करते-करते जैसा परिपूर्ण स्वभाव है, वैसा यथार्थ समझ जाए और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्रगट करे, वह अपूर्व धर्मक्रिया है। वह क्रिया अनन्त जन्म-मरण का नाश करनेवाली है। अनादि काल में कभी भी ऐसी क्रिया एक क्षणमात्र भी जीव ने नहीं की है। यदि एक क्षण भी ऐसी सच्ची समझरूपी क्रिया करे तो जीव की मुक्ति हुए बिना न रहे।

सत् की रुचि ही धर्म का कारण

पैसा किस प्रकार कमाया जाए? — ऐसी बात ज्ञानी नहीं करते परन्तु मात्र सत्स्वभाव की वीतरागी बात कहते हैं। उसे सुनकर कितने ही जीवों को उसका बहुमान आता है और अनेक जीव उसे सुनना ही नहीं चाहते, तो उन दोनों में कितना अन्तर है? जिसे सत्स्वभाव की बात नहीं रुचती, वह जीव तो सत् सुनने में भी नहीं रुकता और न उसमें सत् समझने की पात्रता है। जो जीव, सत् की रुचिपूर्वक बारम्बार श्रवण-मनन करता है, वह जीव बाह्य में भले ही व्यापार-धन्धा या घरबार का राग न छोड़ सके, तथापि उसका भाव पहले जीव की अपेक्षा उत्तम है और उसमें सत् को समझने की पात्रता है। दोनों जीवों के बाह्य में व्यापारादि होने पर भी, एक को रागरहित स्वभाव रुचिकर लगता है और दूसरे को व्यापारादि तथा राग की ही रुचि है। यह रुचि का फेर है। रुचि ही धर्म और अधर्म का कारण है। स्वभाव की रुचि धर्म का और संयोग की रुचि अधर्म का कारण है।

जिन जीवों को सत्य आत्मस्वभाव को समझने की जिज्ञासा हुई है और उसके लिए बारम्बार सत्समागम में रुकते हैं — ऐसे जीवों को अपूर्व आत्मधर्म कैसे प्रगट होता है? वह बात यहाँ आचार्य भगवान समझाते हैं। पर से भिन्न चैतन्यस्वभाव का निर्णय करने से अपने में स्वभाव की परिपूर्णता माने, वही अपूर्णता और विकार का नाश करने का उपाय है। अपूर्णदशा जितना या विकार जितना अपने आत्मा को न मानकर, परिपूर्ण स्वरूप से स्वीकार करना ही प्रथम अपूर्व धर्म है।

हे जीव! शरीर से भिन्न चैतन्य की शरण ले!

हे भाई! जिस शरीर को तू अपना मान रहा है, उस शरीर पर भी

तेरा अधिकार नहीं चलता; तब फिर जो पदार्थ प्रत्यक्षरूप से दूर हैं, उनमें तेरा कैसे चल सकता है? तू पर का कुछ भी नहीं कर सकता; परपदार्थ तुझसे पृथक् हैं; इसलिए उन पदार्थों के आश्रय से जो मोहादिभाव होते हैं, वे भी तेरे स्वरूप से भिन्न हैं। इन सबसे भिन्न अपने चैतन्यतत्त्व को तू पहचान, तो उसके आश्रय से तुझे धर्म और शान्ति प्रगट हो। शरीर की अँगुली टेढ़ी हो जाये, काँपने लगे, लकवा लग जाये अथवा अन्य कोई भी तीव्र इच्छा होने पर भी, इच्छानुसार शरीर का कार्य नहीं होता; इसलिए हे भाई! तू समझ ले! अन्तर में देख कि तेरा स्वभाव उस शरीर और उसकी ओर की इच्छा से भिन्न है; इसलिए उनका आश्रय छोड़ और अपने नित्य-स्थायी चैतन्यस्वभाव का आश्रय कर! उसी की शरण ले! वर्तमान अपूर्णदशा में राग होने पर भी, तू अपने ज्ञान में ऐसा निर्णय और श्रद्धा कर कि वह राग और अपूर्णता मैं नहीं हूँ; मैं तो उस राग और अपूर्णता से रहित पूर्ण ज्ञानस्वभावरूप हूँ। यदि तू ऐसा निर्णय करेगा तो तुझे अन्तर में रागरहित आत्मा को समझने का अवकाश रहेगा, अर्थात् राग और शरीर से भिन्नत्व का भान जागृत रहेगा।

यदि जीवन में शरीर से भिन्न चैतन्य का भान किया होगा तो शरीर छूटने के (मृत्यु के) प्रसङ्ग पर मूर्च्छित नहीं होगा; शरीर से भिन्न चैतन्य की जागृति रहेगी तथा आत्मा के आनन्दपूर्वक समाधि होगी। अहो! मैं चैतन्य भगवान हूँ, शरीर से पृथक् हूँ — ऐसा जिसने भान किया है, उसे शरीर से मुक्त होने का (जन्म-मरण रहित होने का) अवसर आयेगा। जो शरीर में ही एकता मान बैठा है, वह तो शरीर में ही मूर्च्छित हो जाएगा और पुनः-पुनः नवीन शरीर धारण करके अनन्त जन्म-मरणों में भटकेगा। मेरे चैतन्यतत्त्व

का शरीर से सम्बन्ध ही नहीं है — ऐसी श्रद्धा करनेवाला जीव अल्प काल में अशरीरी-सिद्ध होगा।

चैतन्यजाति को शरीर से और विकार से भिन्न जानकर, तीन काल के सर्व पदार्थों से मैं पृथक् हूँ — ऐसा समझकर, अपने ज्ञान को स्वभाव में एकाग्र करके, जो आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव करता है, उसे अपूर्व धर्म प्रगट होता है। उस जीव के ज्ञान में स्वभाव की एकता का ग्रहण हुआ और सर्व परपदार्थों के अभिमान का त्याग हुआ।

शरीर में रोग के समय आत्मा को क्या करना चाहिए?

प्रश्न : आत्मा चैतन्यस्वरूप है और शरीर से भिन्न है, यह बात तो हम मानते हैं परन्तु जब शरीर में रोग हो, तब हमें उसकी दवा तो करना चाहिए या नहीं?

उत्तर : आत्मा, शरीर से भिन्न है और शरीरादि परद्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता — ऐसा वस्तुस्वरूप समझ में आया हो तो उपरोक्त प्रश्न उठने का अवकाश ही नहीं रहता। 'आत्मा, शरीर से भिन्न नहीं है परन्तु शरीर का कर्ता है' — ऐसी जिसकी अज्ञानबुद्धि है, उसी को उपरोक्त प्रश्न उठता है। 'दवा करना या न करना' — ऐसा प्रश्न कब उठता है? यदि दवा की क्रिया आत्मा के आधीन हो तो वह प्रश्न उठता है। जो कार्य करने के लिए स्वयं समर्थ नहीं है, उसके सम्बन्ध में 'मुझे यह करना या न करना' — ऐसा प्रश्न ही नहीं होता। शरीर की अथवा दवा लाने की क्रिया, आत्मा कर ही नहीं सकता। आत्मा तो स्व-पर का ज्ञान करता है, और अधिक तो अपने में राग-द्वेष-मोहभाव करता है। जिसे शरीर के प्रति राग हो, ऐसे जीव को दवा करने का विकल्प आता है परन्तु दवा तो

यदि आना हो तो स्वयं उसके अपने कारण से आती है; आत्मा, पर में एक अणुमात्र भी फेरफार नहीं कर सकता।

यहाँ तो आचार्यदेव यह बात समझाते हैं कि जो रागभाव होते हैं, वह करने का भी आत्मा का कार्य नहीं हैं और अपने को भूलकर पर को जानने में रुके — ऐसा ज्ञान भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा के स्वभाव की ओर उन्मुख होकर जाननेवाला ज्ञान, आत्मा का स्वरूप है। जड़ शरीर की और दवा करने की बात तो दूर रही। जड़ की व्यवस्थाएँ प्रतिक्षण जैसी होना हों, वैसी जड़ के स्वभाव से होती ही रहती हैं; अज्ञानी जीव अपने ज्ञातास्वभाव को भूलकर उसका अभिमान करता है, ज्ञानी जीव उससे भिन्नत्व जानकर अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होता है और राग तथा पर का ज्ञाता रहता है।

दवा को, शरीर को, राग को और आत्मा को – सबको एकमेक माननेवाले जीव को ऐसा प्रश्न उठता है कि 'शरीर में बुखार आये, तब मुझे दवा करनी चाहिए या नहीं?' परन्तु भाई! विचार तो कर कि 'तू अर्थात् कौन? और दवा करने का मतलब क्या?' तू अर्थात् ज्ञान; और दवा का अर्थ है अनन्त जड़ रजकण। क्या तेरा ज्ञान उन जड़ रजकणों की क्रिया करता है? 'मुझे खरगोश के सींग काटना चाहिए या नहीं?' ऐसा प्रश्न ही कब उठ सकता है? यदि खरगोश के सींग हों तो यह प्रश्न उठे, परन्तु खरगोश के सींग ही नहीं हैं तो फिर उन्हें काटने या न काटने का प्रश्न ही नहीं उठता; उसी प्रकार यदि आत्मा, परवस्तु का कुछ कर सकता हो तो 'मुझे करना चाहिए या नहीं' — ऐसा प्रश्न उठे वह ठीक है परन्तु आत्मा पर का कुछ कर ही नहीं सकता, तब फिर

'मैं पर का करूँ' अथवा 'मैं पर का न करूँ' — यह दोनों मान्यताएँ मिथ्यात्व हैं।

सत्य को समझना वीतरागता का कारण है

'आत्मा ज्ञानस्वरूप है, पर का कुछ नहीं कर सकता; जड़ की क्रियाएँ अपने आप जैसी होना हों, वैसी होती रहती हैं' — ऐसा समझकर, अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होना और पर से उदासीन होना, वह प्रयोजन है परन्तु स्वच्छन्द का सेवन करके विषय-कषायों की पुष्टि की यह बात नहीं है। यह तो ऐसी अपूर्व बात है कि यथार्थ समझे तो वीतरागता हो जाए। प्रथम श्रद्धा में वीतरागता हो और फिर चारित्र में वीतरागता हो जाए। कोई जीव स्वच्छन्दी होकर विषय-कषायों की पुष्टि करे तो वह सत्य को समझने का फल नहीं समझा है, इसलिए उसकी नासमझी का ही वह फल है। उसमें सत्य का किंचित् दोष नहीं है। सत्-स्वभाव समझे और विषय-कषायों की वृद्धि हो — ऐसा कभी नहीं हो सकता क्योंकि सत्स्वभाव की समझ तो वीतरागता का ही कारण है।

चैतन्य से च्युत होकर जड़ में सुख मानना बेगारी

अहो! जगत के जीव अपने चैतन्यसुख को भूलकर विषय-कषायों में सुख मान रहे हैं। विषय-कषाय की रुचिवाले जीव, जिसके पास अधिक लक्ष्मी आदि के संयोग हों, उसे अधिक सुखी मानते हैं; उससे 'सेठजी' आदि कहकर अन्तर से उसका बहुमान करते हैं परन्तु अपनी जो चैतन्यजाति है-ज्ञानस्वभाव की सम्पत्ति है, उसको संभालने का जिन्हें अवकाश नहीं है; चैतन्यलक्ष्मी को भूलकर बाह्य में सुख मान रहे हैं, वैसे जीवों को ज्ञानीजन 'सेठ' (श्रेष्ठ) नहीं कहते, लक्ष्मी के 'बेगारी' कहते हैं। जिसे

अपनी श्रेष्ठ चैतन्यलक्ष्मी का भान है, वही सेठ (श्रेष्ठ) है परन्तु जो अपनी श्रेष्ठता को भूलकर, अपने सुख के लिए लक्ष्मी का आश्रय लेता है, वह वास्तव में बेगार ही करता है, उसका जीवन व्यर्थ ही चला जाएगा; उसे चैतन्य के केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होगी।

शरीर-पैसादि से तथा पुण्य-पाप से भिन्न और उस ओर ढलनेवाले क्षणिक ज्ञान जितना भी नहीं — ऐसे अपने पूर्ण चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करके, उसके अनुभव में ज्यों-ज्यों ज्ञान स्थिर होता जाता है, त्यों-त्यों ज्ञान की शुद्धता और वीतरागता में वृद्धि होती जाती है और अन्त में परिपूर्ण ज्ञान प्रगट होकर आत्मा भगवान हो जाता है, मुक्त हो जाता है; इसलिए चैतन्यस्वभावी आत्मा की पहचान करना चाहिए। ●●

चैतन्यस्वरूप की महिमा का भास होना चाहिए

हे जीव! अनन्त काल में महामूल्यवान् यह मनुष्यदेह और सत्समागम प्राप्त हुआ है; इसलिए अब तू अपने आत्मा की समझ कर। आत्मा की समझ किये बिना तूने अनन्त-अनन्त काल निगोद और चींटी इत्यादि के भव में व्यतीत किया है। अरे! वहाँ तो सत् के श्रवण का अवकाश भी नहीं था। अब यह दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके समझ का रास्ता ले। भाई! अन्तर में आत्मा की महिमा आना चाहिए। पैसा, स्त्री इत्यादि की जो महिमा है, वह मिटकर अन्तर में चैतन्यस्वरूप की महिमा का भास होना चाहिए।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

उत्तम क्षमा : धर्म का दिन *

दश लक्षण धर्म

सनातन जैनदर्शन के नियमानुसार आज से पर्यूषण पर्व का प्रारम्भ होता है। सच्चा पर्यूषण अर्थात् दशलक्षण धर्म का आज प्रथम दिवस है। अनादि से तीर्थङ्करों के मार्ग का जो प्रवाह चल रहा है, उसमें आज से प्रारम्भ करके दश दिन तक पर्यूषण पर्व है। आज उत्तम क्षमाधर्म का दिन है, इस प्रकार आज का दिन माङ्गलिक है; वार भी मङ्गल है, और अधिकार भी माङ्गलिक है। आत्मा का मङ्गल कैसे होता है ? आत्मा को धर्म कैसे होता है ? उसकी बात चल रही है।

धर्म का सम्बन्ध किसके साथ है ?

धर्म स्वयं ही माङ्गलिक है। धर्म, आत्मा की निर्दोष पर्याय है; उसका सम्बन्ध आत्मा के स्वभाव के साथ है। आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है ? वह जाने बिना धर्म नहीं हो सकता। शरीर-मन-वाणी तो जड़ हैं, वे तो आत्मा से पृथक् हैं, और दयादि के भावों के साथ भी आत्मा के धर्म का सम्बन्ध नहीं है। दया अथवा हिंसा के भाव स्वयं दोषरूप हैं; इसलिए वे आत्मा के स्वभाव से पृथक् हैं। उन विकारीभावों से आत्मा का ज्ञान पृथक् है। ज्ञान को पर से

** यह प्रवचन दश लक्षण पर्व के अवसर दिया गया है।*

भिन्न बतलाकर अब, आत्मा के साथ एकरूप बतलाते हैं। यह जानने से ज्ञान की उन्मुखता पर की ओर से हटकर आत्मा की ओर होती है, वही धर्म है।

ज्ञान की पर से भिन्नता और जीव के साथ एकता

परद्रव्यों से तो ज्ञान को बिल्कुल पृथक् बतलाया और कर्म के लक्ष्य से प्रवृत्ति होने से जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह अध्यवसान है, वह अचेतन है; वह अध्यवसान और ज्ञान भिन्न हैं — ऐसा कहकर अन्तर के पुण्य-पापभावों को भी ज्ञान में से निकाल दिया है। तब फिर ज्ञान का स्वरूप क्या है? - वह कहते हैं।

अब, '**जीव ही एक ज्ञान है क्योंकि जीव चेतन है; इसलिए ज्ञान को और जीव को अव्यतिरेक है, अर्थात् ज्ञान की और जीव की एकता है।**' ज्ञान है, वह जीव ही है परन्तु ज्ञान है, वह रागादि नहीं है; इसलिए जीव का आश्रय करके जो ज्ञान हो, वही वास्तव में ज्ञान है परन्तु राग का आश्रय करके जो ज्ञान होता है, वह अचेतन है-अज्ञान है। जीव का ज्ञानस्वभाव है, जीव चेतनस्वरूप होने से वह स्वयं ही ज्ञान है। पर को जिलाने या मारने की क्रिया तो आत्मा कभी कर ही नहीं सकता; परजीव अपनी आयु के अनुसार ही जीते-मरते हैं और जो पुण्य-पापरूप भाव होते हैं, वे स्वयं आत्मा नहीं हैं, उनमें आत्मा का ज्ञान नहीं है, और न उनमें आत्मा का कल्याण है।

जागृत चैतन्यसत्ता

जीव स्वयं चैतन्य है; जागृत सत्ता से स्व-पर का ज्ञाता है। चैतन्य में सबको जानने की सत्ता है परन्तु बोलने-चालने की अथवा पर का भला-बुरा करने की सत्ता नहीं है।

यहाँ किसी को **प्रश्न** उठे कि जीव दिखलायी क्यों नहीं देता?

उसका उत्तर — यह बाह्य में शरीरादि जो कुछ ज्ञात होते हैं, वे कहाँ ज्ञात होते हैं? चैतन्य की सत्ता में ज्ञात होते हैं या उससे बाहर? जो कुछ ज्ञात होता है, वह वास्तव में आत्मा का उस प्रकार का ज्ञान ही ज्ञात होता है। इस जगत में यदि आत्मा का ज्ञान न हो तो शरीरादि दृश्य पदार्थों को कौन जानेगा? मुझे परवस्तु ज्ञात होती है — ऐसा निश्चय करते ही 'मैं ज्ञातास्वरूपी आत्मा हूँ' — ऐसा उसमें आ जाता है परन्तु स्वयं अपने स्वभाव को स्वीकार न करके, मात्र पर का ही स्वीकार करता है, इससे स्वयं को अपना ही स्वभाव ज्ञात नहीं होता, इसका नाम अज्ञान है-अधर्म है-दुःख है। पर को जाननेवाला मेरा ज्ञान मेरे आत्मा के आधार से होता है; मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इस प्रकार ज्ञान और आत्मा की एकता मानकर आत्मस्वभाव का आदर करे तो ज्ञान, पुण्य-पाप की रुचि से हटकर स्वभाव में एकता करे, इससे अज्ञान दूर होकर सम्यग्ज्ञान हो-धर्म हो-सुख हो। ऐसे सम्यग्ज्ञान को और जीव को किंचित्मात्र भिन्नत्व नहीं है।

आत्मा के ज्ञानस्वभाव की सामर्थ्य

आत्मा का ज्ञान, शब्दादि से भिन्न अरूपी है। सम्पूर्ण लोकालोक को एकसाथ जाने, तथापि उसे भार नहीं लगता। वह अरूपी अर्थात् सूक्ष्म है; इसलिए इन्द्रियों से अथवा राग से ज्ञात हो, वैसा नहीं है और ज्ञान अपने स्वरूप में रहकर सबको जानता है। दूरवर्ती पदार्थ को जानने के लिए ज्ञान को दूर नहीं जाना पड़ता। पचास वर्ष पूर्व की किसी बात को जानने के लिए ज्ञान को पचास वर्ष जितना समय नहीं लगता, परन्तु वर्तमानरूप रहकर स्वयं तीन

काल को जान लेता है। सबको एक ही साथ जाने, वैसा स्वभाव है परन्तु जानने में 'यह अच्छा और यह बुरा' — इस प्रकार राग-द्वेष करके रुकना, ज्ञान का स्वरूप नहीं है। जो ज्ञान, राग-द्वेषपूर्वक जानता है, वह वास्तव में चैतन्यस्वभाव नहीं है। राग-द्वेष को जानते समय भी उससे एकता किये बिना-पृथक् रहकर जाने - ऐसा सम्यग्ज्ञान का स्वभाव है। पूर्व के विकारीभावों को याद करने से ज्ञान में वह विकार नहीं आ जाता। ज्ञान का स्वभाव तो विकाररहित है; वह विकार को जाननेवाला है परन्तु स्वयं विकाररहित है। ज्ञान स्वयं विकाररहित होने से, विकार के द्वारा ज्ञानस्वरूप ज्ञात नहीं होता; अरूपी होने से किन्हीं इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात नहीं होता, परन्तु इन्द्रियों के अवलम्बनरहित और विकार से भी भिन्न ऐसे ज्ञान द्वारा ही आत्मस्वरूप ज्ञात होता है। जितने अंश में ज्ञान, आत्मा में स्थित हुआ है, उतने ही अंश में वह विकाररहित और अतीन्द्रिय हुआ है।

पुण्य-पाप हों, उन्हें ज्ञान व्यवहार से जानता, क्योंकि परसन्मुख — पुण्य-पाप के सन्मुख होकर ज्ञान नहीं जानता, परन्तु अपने स्वभावसन्मुख होकर ज्ञानस्वभाव को जानने से उसमें परवस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं; इसलिए परमार्थ से तो ज्ञान अपने स्वभाव को ही जानता है; पर को जानता है — ऐसा कहना, वह व्यवहार है।

ज्ञान और आत्मा की एकता के विश्वास में उत्तम क्षमादि धर्म

जीव चेतन है। जीव को और ज्ञान को किंचित् पृथक्त्व नहीं है; इस प्रकार अपना ज्ञातास्वभाव निश्चित करके, स्वभावोन्मुख होता हुआ ज्ञान, आत्मा के साथ अभेद है। इस प्रकार ज्ञान को आत्मोन्मुख करके निर्णय करनेवाले ने पूर्ण आत्मस्वभाव को श्रद्धा में लिया है, और अपने आत्मा को मिथ्यात्वभावरूप अधर्म से

बचा लिया है, इससे सम्यक्त्वरूपी धर्म हुआ है। पहले आत्मा को विकारी मानकर पूर्णस्वभाव की हिंसा करता था; अब, जो शुद्ध ज्ञानस्वभाव है, वह मैं हूँ और विकार का एक अंश भी मैं नहीं हूँ — ऐसी प्रतीति से अपने शुद्धस्वभाव को विकार से बचा लिया, इसका नाम परमार्थ अहिंसा है। विकार की रुचि थी, उस समय आत्मा की अरुचि थी; अब ज्ञान और आत्मा की एकता की रुचि होने से विकार की रुचि दूर हुई; इसलिए स्वभाव की अरुचिरूप अनन्तानुबन्धी क्रोध दूर होकर उत्तमक्षमाधर्म प्रगट हुआ। पहले तो जो पुण्य-पाप होते थे, उन्हीं को आत्मा मान लेता था; इससे उन पुण्य-पाप से पृथक् आत्मा का पता नहीं था। पुण्य-पाप से भिन्न आत्मस्वभाव का भान होते ही तुरन्त समस्त पुण्य-पाप दूर नहीं हो जाते परन्तु पुण्य-पाप होने पर भी, वह मैं नहीं हूँ; मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, इस प्रकार पुण्य-पाप से पृथक्त्व की और ज्ञान के साथ एकत्व की प्रतीति बनाये रखता है; उस प्रतीति के बल से प्रति समय शुद्धता में वृद्धि होती जाती है।

आत्मा को पुण्य-पापवाला माननेरूप मिथ्यामान्यता में आत्मा की हिंसा थी; उस मिथ्यामान्यता से आत्मा को छुड़ा लिया, उसका नाम आत्मदया है। आत्मा, पर को तो बचा या मार नहीं सकता। इस शरीर का भी स्वयं कुछ नहीं कर सकता। जीने की इच्छा होने पर भी, शरीर को नहीं रख सकता, तब फिर पर को तो कहाँ से बचा सकता है? आत्मा को पर से तो परिपूर्ण पृथक्त्व है और अपने ज्ञान के साथ परिपूर्ण एकता है, किंचित् भिन्नता नहीं है। इस सम्बन्ध में किंचित् शङ्का नहीं करना चाहिए — ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

ज्ञानस्वभाव में निःशंक होने का उपदेश

पुनश्च 'ज्ञान का जीव के साथ व्यतिरेक किंचित् भी शङ्कनीय नहीं है, अर्थात् ज्ञान की जीव से भिन्नता होगी — ऐसा बिल्कुल शङ्का करने योग्य नहीं है, क्योंकि जीव स्वयं ही ज्ञान है।' सम्यग्दृष्टि को निःशङ्कता होती है; यहाँ सम्यग्दर्शन के निःशङ्कित अङ्ग की बात रखी है।

स्वभाव की निःशङ्कता से अहिंसा और सत्य धर्म

ज्ञान है, वह आत्मा ही हैं — ऐसा निःशङ्क माननेयोग्य है, उसमें किंचित् शङ्का करने योग्य नहीं है। ज्ञान की वर्तमान दशा, आत्मा में अभेद होकर पूर्ण द्रव्य ज्ञात हो, वह आत्मा है। ऐसे आत्मा को निःशङ्क मानना, वह अहिंसा है; और पर में या पुण्य-पाप में आत्मा को मानना, वह हिंसा है।

ज्ञान है, वह आत्मा है — ऐसा कहने से उसमें भेद की बिल्कुल शङ्का नहीं करना चाहिए। जाननेवाला ज्ञान, आत्मा से किंचित् भी भिन्न होगा — ऐसी शङ्का नहीं करना चाहिए। किसी पर के कारण ज्ञान होता होगा — ऐसा नहीं मानना चाहिए। रागादि भावों में ज्ञान होगा — ऐसी शङ्का बिल्कुल नहीं करना चाहिए। ज्ञान और आत्मा एक ही हैं — ऐसी निःशङ्क श्रद्धा करना चाहिए। ऐसी श्रद्धा है, वह धर्म है। ऐसी श्रद्धा करनेवाले ने जैसा है, वैसा स्वरूप माना है, इसलिए वह सत्यवादी हुआ है।

स्वभाव की निःशङ्कता में आनेवाला अचौर्य धर्म

'क्या आत्मा मात्र जानने का ही कार्य करता है ? या पर का कुछ करता होगा ? या राग भी करता होगा ?' — ऐसी बिल्कुल

शङ्का नहीं करना चाहिए। आत्मा चैतन्यस्वभाव ही है — ऐसा निःशङ्क मानकर, आत्मा को स्वभाव में स्थिर करना और परद्रव्य को अपने में स्वीकार न करना, वह अचौर्य धर्म है। परद्रव्य अपना नहीं है, फिर भी उसे अपना मानना, चोरी है। ज्ञान, पर से बिल्कुल भिन्न है और आत्मा से बिल्कुल भिन्न नहीं है — ऐसा माननेवाले ने अपने आत्मा को चोरी के भावों से बचाया है। ऐसे आत्मस्वरूप की श्रद्धा में धर्म है; बाह्य में मन्दिर, शास्त्रादि में कहीं धर्म नहीं है। जड़ वस्तु को अथवा विकारीभावों को अपना स्वरूप मानना, वह मिथ्यामान्यता है, उसमें त्रिकाल के पदार्थों की चोरी है।

जो पराई वस्तु को ग्रहण करे, उसे चोर कहते हैं। परवस्तु अपनी नहीं है, तथापि उसे अपना माने, वह जीव चोर है। जैसे, नदी में पानी बहता जा रहा हो, वहाँ कोई ऐसा माने कि 'यह पानी मेरा है', तो वह असत्यरूप है; उसी प्रकार इस जगत में समस्त वस्तुएँ अपने परिणमन-प्रवाह में परिणमित होती रहती हैं और पुण्य-पापभाव भी होकर दूसरे ही क्षण मिट जाते हैं। उन पर -वस्तुओं को या क्षणिक भावों को जो आत्मा अपना स्वरूप मानता है, वह आत्मा का हिंसक, असत्य का सेवक और चोर है। पैसे को अपना मनवाये अथवा पैसा खर्च करने के भाव को धर्म मनवाये, वह भी चोर है, आत्मा का हिंसक है।

पर का कुछ करने का या विकार करने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है। ज्ञान है, वह जीवतत्त्व है और क्षणिक विकार है, वह आस्रवतत्त्व है; उन दोनों को एकमेक माननेवाला जीव अपने स्वभाव की और देव-शास्त्र-गुरु की भी परमार्थ से आसातना करनेवाला है, उसे मिथ्यात्व का महान पाप है।

स्वभाव की निःशङ्कता में आनेवाला ब्रह्मचर्य धर्म

रागादिक से भिन्नत्व जानकर, आत्मा और ज्ञान की एकता माननेवाला सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हो, तथापि वह जीव, श्रद्धा की अपेक्षा ब्रह्मचारी है। पहले परसंयोग और विकार के साथ आत्मा की एकता मानकर उसमें युक्त होता था, वह मैथुन-सेवन था। अब ज्ञान और आत्मा में एकत्व की श्रद्धा करके विकार और संयोगों से पृथक्त्व को जाना, तब उसने आत्मा के साथ एकता करके पर के साथ की एकता को तोड़ दिया, वह जीव परमार्थ से ब्रह्मचारी है।

स्वभाव की निःशङ्कता में आनेवाला अपरिग्रह धर्म

मैं ज्ञानमात्र हूँ; इसके अतिरिक्त पर का एक अंश भी मेरा नहीं हैं — ऐसा माननेवाले जीव वास्तव में अपरिग्रही हैं। उन्हें बाह्य में चक्रवर्ती के राज्य का संयोग होने पर भी, अन्तर के अभिप्राय में एक अंश को भी अपना नहीं मानते, ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं अंशमात्र भी एकता नहीं मानते, इससे ज्ञानी उन्हें निष्परिग्रही कहते हैं और जिसने आत्मस्वभाव में एकता प्रगट नहीं की है तथा बाह्य पदार्थों में अंशमात्र भी एकता है, वह जीव बाह्य में त्यागी हो, तथापि अनन्त परिग्रही है।

अनादिकालीन दश धर्म

उत्तम क्षमादि दस धर्म अनादिकालीन हैं, उनमें से आज उत्तम क्षमा धर्म का दिन है। मैं त्रिकाल अशरीरी, निर्विकारी तत्त्व हूँ, ज्ञान के साथ अभेद हूँ — ऐसी रुचि और प्रतीति करना, वह महान क्षमा ही है। कोई आकर गालियाँ दे अथवा मारे, उस समय क्रोध न करना शुभराग है — ऐसी क्षमा की यहाँ बात नहीं है। आत्मा को

विकारयुक्त और शरीरयुक्त माननेवाले ने आत्मा के स्वभाव पर अनन्त क्रोध किया है, आत्मा को ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण माननेवाले ने आत्मा पर उत्तमक्षमा की है।

निःशङ्कता का फल केवलज्ञान; शङ्का का फल अनन्त संसार

जिसने आत्मा और ज्ञान में किंचित् भी भिन्नत्व माना, वह जीव, ज्ञान से अलग का अलग रहेगा, अर्थात् विकार में एकता करके वह अनन्त संसार में परिभ्रमण करेगा; वह अपने ज्ञान को आत्मा में अभेद नहीं करेगा और जिसने आत्मा तथा ज्ञान की सम्पूर्ण एकता मानी है, वह जीव, पर्याय-पर्याय में आत्मा में ज्ञान की एकता करता है, वह विकार से अलग ही रहता है। वह जीव अल्प काल में ही ज्ञान और आत्मा की सम्पूर्ण एकता प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त होगा।

आत्मा और ज्ञान में किंचित् भेद नहीं है — जिसे ऐसी निःशङ्क दृष्टि हुई है, वह जीव किसी भी प्रसङ्ग पर आत्मा को ज्ञान से भिन्न नहीं मानता; इसलिए वह कभी आत्मस्वभाव का आश्रय नहीं छोड़ता और विकार के साथ ज्ञान की एकता कभी नहीं मानता। वह किसी भी समय आत्मा को विकारवाला नहीं मानता; इसलिए उस जीव का ज्ञान प्रतिक्षण आत्मस्वभाव के साथ एकमेक होता जाता है और विकार से छूटता जाता है; इससे उसे प्रति समय ज्ञान और वीतरागता की वृद्धि होती जाती है; इसका नाम साधकदशा है।

अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि वाणी के कारण ज्ञान होता है, इस कारण उन्होंने आत्मा के साथ ज्ञान की एकता नहीं मानी; ज्ञान को आत्मा के साथ एकमेक नहीं किया, किन्तु परद्रव्य के साथ एकता मानकर विकार के साथ ज्ञान को जोड़ दिया; वह जीव, आत्मा के

ज्ञानस्वभाव की हत्या करनेवाला आत्मघाती है। उसने ज्ञान को आत्मा से पृथक् माना है-इससे उसके आत्मा को ज्ञान से अत्यन्त वियोग (एकेन्द्रियदशा) हो जाएगी।

ज्ञान की और आत्मा की ही एकता है, इससे ज्ञान, आत्मा के आश्रय से ही स्व-पर का ज्ञाता है; रागादि का कर्ता नहीं है, इसमें जो जीव बिल्कुल शङ्का नहीं करता, उसके ज्ञान को आत्मा से बिल्कुल भिन्नता नहीं रहेगी और विकार का किंचित् भी सम्बन्ध नहीं रहेगा, अर्थात् उसका ज्ञान, आत्मा के आश्रय से ही परिपूर्णतया परिणमित होकर केवलज्ञान प्रगट होगा और विकार का सर्वथा अभाव हो जाएगा।

आचार्य भगवान कहते हैं कि आत्मा और ज्ञान में पृथक्त्व होगा — ऐसी शङ्का किंचित्मात्र नहीं करना चाहिए। ऐसी आत्मस्वभाव की निःशङ्कता मोक्ष का मार्ग है। बस, जानना ही आत्मा है, अर्थात् अन्तरस्वभावोन्मुख होकर स्व में अभेद हुआ, वह ज्ञान ही आत्मा है — ऐसी निःशङ्क श्रद्धा हुई, वहीं ज्ञान विकार से अलग होकर स्वोन्मुख हुआ-भेदज्ञान हुआ; इससे अब पर्याय-पर्याय में ज्ञान और आत्मा की अभेदता बढ़ते-बढ़ते और राग दूर होते-होते वीतरागता और केवलज्ञान हो जाएगा।

आत्मा, पर का कुछ करता है अथवा परवस्तु आत्मा का कुछ करती है — ऐसा मानना अज्ञान है, अधर्म है। उसी प्रकार जैसे संयोग आयें, वैसा ही ज्ञान होता है, अर्थात् संयोगों के आधार से ज्ञान होता है, ऐसा जो मानता है, उसने वास्तव में आत्मा और ज्ञान को एक नहीं माना है, परन्तु पृथक् माना है और पर संयोगों में ज्ञान की एकता मानी है; उस जीव का ज्ञान, चेतनस्वभाव की एकता

रहित होने से और संयोगों के साथ एकता के अभिप्रायवाला होने से वास्तव में अचेतन है।

ज्ञान की जिस अवस्था ने संयोग में-राग में एकता की है, वह आत्मा नहीं है क्योंकि उस अवस्था ने आत्मा से भिन्नत्व माना है; इसलिए वह अवस्था, आत्मस्वभाव में एकता करके स्थिर नहीं होगी और आत्मानुभव के आनन्द को नहीं भोग सकेगी, परन्तु वह अवस्था अपने ज्ञान को आत्मा के बाहर फिरा रही है, इस कारण बाह्य के लक्ष्य से मात्र आकुलता का ही उपभोग करेगी।

स्वभाव की निःशङ्कता ही कर्तव्य है

प्रश्न : इसमें क्या करना कहा जाता है, वह संक्षेप में समझाइये।

उत्तर : आत्मा ज्ञानस्वरूपी है और पुण्य-पाप, आत्मा का स्वरूप नहीं हैं — ऐसी निःशङ्क श्रद्धा करके, ज्ञानस्वभाव के साथ वर्तमान पर्याय की एकता करना और पुण्य-पाप से भेदज्ञान करना — यही करना है। जिसने ज्ञान और आत्मा के पृथक्त्व की किंचित्मात्र शङ्का नहीं की, अर्थात् ज्ञान का पर के या विकार के साथ किंचित् सम्बन्ध नहीं माना, वह जीव अपने ज्ञानस्वभाव में निःशङ्क हुआ-निडर हुआ-धर्मी हुआ। ऐसे अपने आत्मा की निःशङ्क श्रद्धा करना ही धर्म का मूल है। पहले वह जीव अपने को संयोगाधीन मानता था, अब स्वभावाधीन हुआ। अब चाहे जैसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोग आएँ, उनसे भिन्नता जानकर स्वभाव में निःशङ्क और निर्भय रहकर प्रतिक्षण आत्मशान्ति की वृद्धिपूर्वक समाधिमरण करके एकावतारी हो जाए - उसके उपाय का यह कथन है।

मुक्ति का उपाय है निःशङ्कता

त्रिलोकपूज्य श्री तीर्थङ्करदेव और आत्मानुभव में झूलते हुए सन्त-मुनिवर पुकार करते हैं कि — हे भव्य! तेरे ज्ञान को तेरे स्वभाव से किंचित् भिन्नत्व नहीं है, और तेरे ज्ञान की हमारे साथ किंचित् एकता नहीं है। तू हमसे अलग है; हमारा तुझे बिल्कुल आश्रय नहीं है। अपने ज्ञानस्वभाव के साथ ही तुझे एकता है, अपने आत्मस्वभाव से तू ज्ञान को किंचित् भी अलग मानेगा तो नहीं चलेगा; ज्ञान और आत्मा की सर्व प्रकार से एकता मानकर, राग से पृथक् होकर स्वभाव में ही ज्ञान की युक्तता कर, इसमें किंचित्मात्र भी शङ्का न कर — यही मुक्ति का उपाय है। जो इसमें थोड़ी सी भी शङ्का करेगा, उसकी मुक्ति नहीं होगी।

जीवस्वभाव में ज्ञान की खान भरी हुई है, जीव स्वयं पूर्ण ज्ञानमय है। वह कहीं परलक्ष्य में रुके बिना और राग-द्वेष का विकल्प भी किए बिना सबको जानने की सामर्थ्यवाला है; इसलिए हे जीव! तू संयोग को, संयोग के लक्ष्य से होनेवाले ज्ञान को अथवा विकार को अपना स्वरूप न मान, परन्तु विकार के समय भी तू उन सबका लक्ष्य छोड़कर अन्तरोन्मुख होकर अपने पूर्ण ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा कर! पूर्ण ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा ही सम्यक्त्व है। ऐसी श्रद्धा प्रगट करके जिसने अपने ज्ञान को आत्मस्वभाव में एकतारूप परिणमित किया है, उसे सदैव धर्म होता रहता है — प्रति समय शुद्धता बढ़ती जाती है और बन्धन से मुक्ति होती जाती है।

'आहार का त्याग करना धर्म है' — यह मान्यता अज्ञान है

अधिकांश लोग आहार-त्याग को धर्म मान बैठे हैं, परन्तु वह मात्र अज्ञान ही है। शरीर को आहार का संयोग नहीं हुआ, वह जड़

की स्वतन्त्र क्रिया है, उसके साथ आत्मा के धर्म का सम्बन्ध नहीं है। आहार का राग कम करे तो वह पुण्य है परन्तु यदि उसे धर्म माने अथवा यह माने कि मैंने आहार को छोड़ा है तो मिथ्यात्व का अनन्त पाप उसी समय बँधता है। वह मिथ्यात्वरूपी पाप कैसे टले और जीव को धर्म कैसे हो? उसकी यहाँ बात है।

मैं आहार का कर्ता नहीं हूँ, इच्छा होती है, उसके साथ ज्ञान की एकता नहीं है; इच्छा से और आहार से पृथक् तथा ज्ञान-आनन्द से अभेदरूप आत्मस्वभाव मैं हूँ — ऐसी शुद्ध आत्मा की श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और मिथ्यात्व का अनन्त पाप दूर हो जाता है, यही अनन्त काल में एक क्षणमात्र भी नहीं किया — ऐसा अपूर्व धर्म है। इसके अतिरिक्त आहारादि का राग छोड़कर पुण्य तो जीव ने अनन्त बार बाँधा है, उसके फल में अनन्त बार महान सम्राट हुआ, और पाप करके उसके फल में अनन्त बार भिखारी भी हुआ है। अनन्त बार स्वर्ग के भव धारण किए और अनन्त बार नरक के, परन्तु उन पुण्य-पाप और उनके फल से भिन्न अपना आत्मस्वभाव है, उसे कभी नहीं समझा, इसी से संसार का भ्रमण दूर नहीं हुआ। अब वह संसार-परिभ्रमण कैसे दूर हो और मुक्तदशा कैसे प्रगटे? - उसका उपाय बहुत ही सरल रीति से यहाँ समझाकर सन्तों ने महान उपकार किया है।

धर्मी जीव की निःशङ्कता

जिसने ज्ञान और आत्मा की एकता मानी है, उस जीव को राग के समय भी, 'मैं ज्ञान से पृथक् हो जाता हूँ, अथवा मेरा ज्ञान, आत्मा से पृथक् होकर रागरूप हो जाता है' — ऐसी शङ्का बिल्कुल नहीं होती। बस, ऐसी सम्यक्श्रद्धा के बल से त्रिकाली

चैतन्यस्वभाव को दृष्टि में लेकर उसमें एकता की और राग के साथ की एकता को तोड़ दिया — ऐसे जीव को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित उत्तम क्षमादि दसों धर्म अंशत: आ जाते हैं।

धर्मी जीव कहाँ आरूढ़ होता है ?

जिस प्रकार पहाड़ के ऊपर चढ़नेवाले का लक्ष्य नीचे तलहटी पर नहीं होता परन्तु ऊपर शिखर पर होता है; उसी प्रकार जिसे आत्मा की मुक्तदशा प्रगट करना हो, वह जीव नीचे नहीं देखे, अर्थात् रागादि को या क्षणिक अवस्था को ही अपना स्वरूप नहीं समझे, किन्तु ऊपर देखे, अर्थात् सदैव परिपूर्ण नित्य चैतन्यस्वभाव को समझकर उसकी श्रद्धा करे और क्षणिक पर्याय में या राग में एकता मानकर उसमें आरूढ़ न हो, परन्तु त्रिकाली चैतन्यस्वभाव में आरूढ़ हो, तो उसकी परिणति ऊपर-ऊपर चढ़ती जाती है, अर्थात् शुद्ध होती जाती है, और वह मुक्ति प्राप्त करता है। जिसे धर्म करना हो, उसे अपने आत्मा को त्रिकाली चैतन्य भगवानस्वरूप स्वीकार करके, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके, उसी में आरूढ़ होना चाहिए। जो जीव, पुण्य-पाप को ज्ञान के साथ एकमेक मानता है, पुण्य से धर्म मानता है अथवा पुण्य अच्छा है, वह अपना कर्तव्य है-ऐसा मानता है, वह जीव, विकार में ही आरूढ़ हुआ है; वह स्वभाव में आरूढ़ नहीं होता, इस कारण नीचे-नीचे गिरता जाता है।

चैतन्यभगवान के दर्शन

जिसने ज्ञान को विकार का कर्ता माना है, उस जीव ने आत्मा और ज्ञान के बीच भेदरूप पर्दा रखा है। जिस प्रकार जिनप्रतिमा पर आड़ा पर्दा डालकर देखे तो उसका रूप स्पष्ट दिखायी नहीं देता;

उसी प्रकार इस आत्मा का स्वभाव चैतन्यमय जिनबिम्ब है, परन्तु 'विकार मेरा स्वरूप है' - ऐसी मिथ्यामान्यतारूपी पर्दा आड़ा डालकर देखनेवाले को यह दिखायी नहीं देता कि स्वयं चैतन्यभगवान है, परन्तु विकारी ही भासित होता है। वह जीव, ज्ञान और आत्मा के बीच मिथ्यात्वरूपी पर्दा रखता है, इसलिए उसे चैतन्यभगवान के दर्शन नहीं होते। वह पर्दा दूर करके सच्ची मान्यता से देखे तो अपना ही आत्मा भगवान है, वह ज्ञात होता है।

जीवन का कर्तव्य

अहो! धर्मात्मा जीव को जीवन में यदि कुछ करना हो तो आत्मा और ज्ञान की सम्पूर्ण एकता ही करना चाहिए, वही करना है। प्रथम राग से भिन्नता और ज्ञान के साथ आत्मा की एकता की श्रद्धा करना चाहिए और फिर ज्ञान को स्वरूप में स्थिर करके वीतरागभाव प्रगट करके सम्पूर्ण एकता करना चाहिए - इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है। इसी में मोक्षमार्ग अथवा धर्म - जो कहो वह आ जाता है। किसी भी पर के कारण ज्ञान विकसित होता है — ऐसा जिसने माना है, उसने राग के साथ ही ज्ञान की एकता की है — ऐसा अज्ञानी जीव प्रत्येक संयोग के समय ज्ञान और आत्मा की एकता को तोड़ता है, वह अधर्म है। ज्ञान और आत्मा की एकता तथा रागादि से भिन्नता की श्रद्धा से ज्ञानी जीव को चाहे जैसे प्रसङ्ग पर भी प्रति समय स्वभाव में ज्ञान की एकता बढ़ती जाती है और राग टूटता जाता है-वह धर्म है।

गृहस्थपने में धर्मी को स्वभाव की निःशङ्कता

भरत चक्रवर्ती, पाँच पाण्डव, रामचन्द्रजी, श्रेणिक राजा, सीताजी इत्यादि को गृहस्थपने में भी ऐसे ज्ञानस्वभाव का बराबर भान था

और इससे उन्हें प्रति समय आत्मस्वभाव में ज्ञान की अभेदता बढ़ती जाती थी और विकार में अटकना दूर होता जाता था; गृहस्थपन में राग होता था, तथापि उन्हें 'आत्मा की राग के साथ एकता हो जाती होगी ?' — ऐसी बिल्कुल शङ्का नहीं होती थी। श्रेणिक राजा इस समय नरक के संयोग में हैं, तथापि उनके ऐसी ही दशा है। सभी सम्यग्दृष्टियों की ऐसी ही श्रद्धा होती है, उसमें उन्हें किंचित् शङ्का नहीं होती। जिसे ज्ञान और आत्मा की एकता में शङ्का है, वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि उसे राग और संयोगों के साथ एकता की मान्यता बनी हुई है।

पर में एकता, अधर्म; स्व में एकता, धर्म

बाह्य में शरीरादि जड़ की क्रिया से अथवा अन्तर के पुण्य –परिणाम से जो धर्म मानता है, वह जीव अपने ज्ञान की जड़ के साथ और विकार के साथ एकता मानकर अधर्म का ही सेवन कर रहा है, और जिसने आत्मस्वभाव में ज्ञान की एकता की है, उसने विकार से और जड़ से अपने ज्ञान को पृथक् किया है, वह जीव प्रतिक्षण अनन्तानन्त काल में कभी न किया हुआ – ऐसा अपूर्व धर्म कर रहा है। स्वभाव में एकता करके रागरहित हुआ उसका ज्ञान स्वयं ही धर्म है; वही सम्यक्त्व, ज्ञान और संयम है। इसका नाम सर्वविशुद्ध ज्ञान है।

आत्मा के साथ शत्रुता कैसे दूर होती है ?

आचार्य भगवान कहते हैं कि हे जीव! तू पर में मत देख! पर से गुण प्रगट होंगे – ऐसा मानकर अपने आत्मा का अनादर न कर! तेरा आत्मा ही अनन्त गुणों का भण्डार है, उसमें अपने ज्ञान की एकता करके, उसके साथ जो अनन्त काल से शत्रुता चली आ

रही है, उसे छोड़ दे! वही सच्ची क्षमा है। जिसने आत्मा और ज्ञान का पृथक्त्व मानकर विकार के साथ किंचित् भी एकत्व माना है, अर्थात् संयोगों से ज्ञान होना माना है, उसने संयोग और विकार के साथ मित्रता (एकत्वबुद्धि) की है, और अपने आत्मा के साथ शत्रुता की है; विकार का आदर और स्वभाव का अनादर करके उस पर अनन्त क्रोध किया है, अपने आत्मा का महान अपराध किया है। यह अनन्त कालीन महान अपराध और क्रोध दूर होकर सच्ची क्षमा कैसे प्रगट हो? – उसका उपाय यहाँ कहा है।

मोक्ष और निगोद

अज्ञानी जीव, पैसा खर्च करने से पुण्य और धर्म मनवाते हैं, और उसके फल में स्वर्ग-मोक्ष मिलेगा — ऐसा कहते हैं परन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि पैसा खर्च करने के कारण तो पुण्य-पाप अथवा धर्म-कुछ भी नहीं होता, क्योंकि वह तो जड़ है; आत्मा उसका कर्ता नहीं है परन्तु 'मैं पर का कर्ता हूँ, और मैंने पैसा खर्च किया है' — ऐसा मानकर और पुण्य से धर्म मानकर मिथ्यात्व की पुष्टि करके वह महापापी जीव, निगोद में जाएगा। देखो, अज्ञानी पैसा खर्च करने से मोक्ष मना रहे हैं! ज्ञानी कहते हैं कि पैसे की क्रिया का कर्ता मैं हूँ-ऐसा माननेवाला जीव, मिथ्यात्व के कारण निगोद में जाएगा। ज्ञानी और अज्ञानी की मान्यता में ऐसा विरोध है। इस मान्यता के साथ धर्म-अधर्म का सम्बन्ध है।

जो जीव, पुण्य से या जड़ की क्रिया से आत्मा का धर्म मानेगा, वह मिथ्यात्व के कारण निगोद में जाएगा - ऐसा कहा, वह कहीं डराने के लिए नहीं कहा है, परन्तु यथार्थ स्वरूप समझाया है। जिसने आत्मा के ज्ञान को स्वभाव से छुड़ाकर, संयोगों के साथ

जोड़ा है, उसके ज्ञान का परिणमन अनन्त हीन हो जाएगा – उसी का नाम निगोददशा है; उसकी ज्ञानशक्ति अत्यन्त नष्ट हो गयी, इससे बाह्य निमित्तरूप भी मात्र एक स्पर्शेन्द्रिय के अतिरिक्त दूसरी कोई इन्द्रियाँ नहीं होती।

ज्ञानस्वभाव की आराधना और विराधना का फल

'मैं ज्ञाता साक्षीस्वरूप नहीं, किन्तु पर का और विकार का कर्ता हूँ' — इस प्रकार जिसने पर का कर्तृत्व माना है और अपना ज्ञातास्वभाव नहीं माना – उस जीव की मिथ्यामान्यता में ऐसा आ जाता है कि मेरा ज्ञातास्वभाव ढँक जाए और मुझमें विकार का तथा पर के कर्तृत्व के भाव का विकास हो! इस मिथ्या मान्यता के कारण उस जीव का ज्ञान अन्तिम सीमा तक ढँक जाएगा और वह एकेन्द्रिय होगा। अपने ज्ञानस्वभाव की विराधना का यही फल है।

जिसने अपने ज्ञाता / साक्षीस्वरूप को स्वीकार करके, विकार की और पर के कर्तृत्व की बुद्धि को उड़ा दिया है, वह जीव प्रति समय अपने ज्ञातृत्व को बढ़ाता-बढ़ाता और रागादि भावों को दूर करता हुआ अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करता है और साक्षात्रूप से सम्पूर्ण ज्ञाता हो जाता है। अपने ज्ञानस्वभाव की आराधना का यह फल है।

ज्ञान का कार्य

कहीं आग लगी हो तो उसे आँख जानती है, लेकिन क्या करे? क्या वह पदार्थों में फेरफार कर सकती है? जिस प्रकार आँख पदार्थों को जानती है किन्तु उनमें फेरफार नहीं कर सकती; उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव है; आत्मा सबको जानता है

किन्तु पर में वह क्या करे ? पर को जानने में, राग-द्वेष करना भी ज्ञान का कार्य नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वरूप की जिसे श्रद्धा है, वह धर्मात्मा, संयोग और रागादि का ज्ञाता ही है। पाण्डव आदि धर्मात्मा थे; जिस समय कुरुक्षेत्र का युद्ध हुआ, उस समय अज्ञानियों को तो बाह्य दृष्टि से ऐसा ही दिखायी देता है कि यह पाण्डव युद्ध और द्वेष के कर्ता हैं, परन्तु वास्तव में तो उस समय भी वे धर्मात्मा, स्वभाव की एकता से च्युत होकर कहीं बाह्य में नहीं गये थे, संयोग की क्रिया में या राग में उनका आत्मा नहीं था, किन्तु उनका आत्मा तो ज्ञानस्वभाव में एकता की श्रद्धा करके प्रति समय उसी में एकता की वृद्धि ही करता था — इसका नाम धर्म है।

'ज्ञान और आत्मा की एकता' का क्या अर्थ ?

यहाँ ज्ञान और आत्मा की एकता करना चाहिए — ऐसा बारम्बार कहा जाता है; ज्ञान और आत्मा की एकता करने का अर्थ क्या ? 'ज्ञान अलग वस्तु है और आत्मा अलग वस्तु है - उन दोनों को एकत्र करना है' — ऐसा नहीं समझना चाहिए। ज्ञान और आत्मा कहीं दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। आत्मा स्वयं ही अनादि से स्वयंसिद्ध ज्ञानस्वरूप है, परन्तु जिसे उस स्वरूप की खबर नहीं है, वह जीव, राग को अपना स्वरूप मानकर रागरूप ही स्वयं परिणमित होता है, इसलिए उसका आत्मा ज्ञानस्वरूप से परिणमित नहीं हुआ, उसका नाम ज्ञान और आत्मा की भिन्नता है; और अपने आत्मस्वभाव की श्रद्धा करने से आत्मा, रागादि में एकतारूप परिणमित नहीं हुआ, परन्तु स्वाश्रय से ज्ञानस्वभावरूप परिणमित हुआ, उसका नाम ज्ञान और आत्मा की एकता है — ऐसा समझना चाहिए।

आत्मा की केवलज्ञानकला कैसे विकसित होती है ?

प्रत्येक आत्मा चैतन्यस्वभावी है, उसमें केवलज्ञान प्रगट होने की शक्ति है। जिस प्रकार बच्चों के खेलने का रंगीन कागज का एक ऐसा खिलौना आता है कि उसके दोनों ओर लगी हुई दोनों लकड़ी की तीतियों को पकड़कर खोलने से उसमें से मोर की कला जैसी दिखायी देती है। बन्द खिलौनी में वैसी शक्ति थी, इसलिए उसमें से वह कला विकसित होती है; दूसरे सामान्य कागजों में वैसा नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा चैतन्य की केवलज्ञानकला का भण्डार है; उसकी श्रद्धा करके राग और ज्ञान को पृथक् करने से केवलज्ञानरूपी पूर्णकला विकसित हो जाती है परन्तु मैं पर का करूँ — ऐसा माने और पर्याय में क्रोधादि हों, उन्हें ज्ञान का स्वरूप माने तो वह जीव, ज्ञान और राग को भिन्न नहीं जानता है; इसलिए उसकी ज्ञानकला का विकास नहीं होता परन्तु बन्द ही रहती है।

आत्मा में भगवान होने की सामर्थ्य

जिस प्रकार मोर के छोटे से अण्डे में साढ़े तीन हाथ का रंग-बिरंगा मोर होने की शक्ति है; उस अण्डे की श्रद्धा करके उसे सेये तो अल्प काल में उसमें से साक्षात् मोर प्रगट होता है, परन्तु 'इस छोटे से अण्डे में इतना बड़ा मोर कहाँ से होगा ?' ऐसी शङ्का करके यदि अण्डे को हिलाये-डुलाये तो उसमें से मोर नहीं होता; उसी प्रकार यह आत्मा चैतन्यस्वरूप, शरीर-मन-वाणी-पुण्य-पापरहित है, उसके परिपूर्ण सामर्थ्य की श्रद्धा करके उसका सेवन करने से वह स्वयं केवलज्ञानरूप हो जाता है। जो सिद्ध भगवान हुए, वे अपने स्वभावसामर्थ्य से ही हुए हैं, और मैं भी ऐसी ही

स्वभावसामर्थ्य से परिपूर्ण हूँ — ऐसी जिसने निशङ्क श्रद्धा की, उस जीव को वर्तमान ज्ञानदशा अल्प होने पर भी, वह अवस्था, त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुख होती है और उस स्वभाव के सेवन द्वारा अल्प काल में ही उसे केवलज्ञान प्रगट होता है परन्तु 'मैं तो एक अल्पज्ञ प्राणी हूँ, मेरा पैसादि के बिना नहीं चल सकता और मुझमें भगवान होने की सामर्थ्य इस समय कैसे हो सकती है?' — इस प्रकार जो जीव, स्वभावसामर्थ्य में शङ्का करता है, वह मिथ्यादृष्टि है; उसके ज्ञानकला विकसित नहीं होती। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि 'हे जीवों! आत्मा परिपूर्ण चैतन्यसामर्थ्यवाला है, उसकी श्रद्धा करो, उसमें निःशङ्क होओ, बिल्कुल शङ्का मत करो!'

द्रव्यदृष्टि का फल केवलज्ञान, पर्यायदृष्टि का फल निगोद

ऐसी निःशङ्क श्रद्धा कब होती है? वर्तमान अवस्था तो अपूर्ण और पुण्य-पापवाली है; इस कारण अवस्था पर दृष्टि रखकर यदि निःशङ्कता करने जाएगा तो रागरहित त्रिकाली चैतन्य की निःशङ्कता नहीं होगी, परन्तु संयोग की श्रद्धा होगी, विकार में एकता होगी; वीतरागता और केवलज्ञान विकसित नहीं होंगे, सम्यग्ज्ञान नहीं होगा परन्तु मिथ्यात्व से ज्ञान की अत्यन्त हीनता करके वह निगोद में जाएगा। पर्यायदृष्टि का फल निगोददशा है और द्रव्यदृष्टि का फल केवलज्ञान है।

जिसने आत्मा के ज्ञान को वर्तमान जितना ही क्षणिक और विकारी माना है, उसने त्रिकाली चैतन्य के साथ ज्ञान की एकता नहीं की, अर्थात् ज्ञानस्वभाव की निःशङ्कता नहीं की; इसलिए उसके ज्ञान का परिणमन हीन हो जाएगा और वह एकेन्द्रिय -

निगोदिया होगा। जो विपरीतदृष्टि के कारण संयोग में और विकार में ही अपना अस्तित्व मानता है, उस जीव ने स्वयं जीवस्वरूप से अपने अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है, इसलिए उसका परिणमन ऐसा हो जाता है कि दूसरे साधारण जीव भी जीवस्वरूप से उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते।

मैं त्रिकाल परमपारिणामिक चैतन्यभाव हूँ — इस प्रकार आत्मस्वभाव का निर्णय करके उसमें ढलनेवाला ज्ञान, वह जीव है; इस प्रकार अपने ज्ञान को त्रिकालीस्वभाव की ओर बढ़ाने से क्षणिक रागादि पर्याय की श्रद्धा-रुचि दूर होकर आत्मस्वभाव की निःशङ्क श्रद्धा होती है। ज्ञानस्वभाव की ऐसी निःशङ्क श्रद्धा प्रगट करके स्वभाव में ढलते-ढलते केवलज्ञान होता है, और इन्द्र उसका महोत्सव करने आते हैं।

'क्या अकेले ज्ञान से ही धर्म होता होगा? या भक्ति-पूजादि से भी धर्म होता है?' — ऐसी शङ्का जिसने की और ज्ञानस्वभाव में निःशङ्क नहीं हुआ, वह जीव, स्वभाव का अनादर करके राग को ही स्वीकार करता है; चैतन्य के केवलज्ञानसामर्थ्य को वह नष्ट कर देता है। त्रिकाल ज्ञानमय जीव की श्रद्धा करके जो निःशङ्क हुआ है, वह गुण-गुणी को विकार से बचाकर अभेद करता है; पर्याय को द्रव्य में लीन करके केवलज्ञान प्राप्त करता है।

बिल्कुल शङ्का नहीं करना

'मैं पर का कुछ करूँ, अथवा श्रुत-शास्त्रादि से मुझे ज्ञान हो जाये' — ऐसा मानकर जिसने अपने ज्ञान को पर-सन्मुख ही रोक रखा है, उसने आत्मा और ज्ञान में भिन्नता मानी है; आत्मोन्मुख होने से ज्ञान विकसित होता है, उसमें उसने शङ्का की है; इसलिए

उसका ज्ञान, आत्मा से पृथक् ही रहेगा, अर्थात् उसका ज्ञान, आत्मा को जानने में तत्पर नहीं होगा, किन्तु पर में एकताबुद्धि करके भव-भ्रमण करता रहेगा।

जिसने जीव और ज्ञान की एकता में नि:शङ्कता करके, आत्मा को जानने तथा उसके अनुभव में अपने ज्ञान को लगाया है, उसे आत्मस्वभाव के आधार से ज्ञान की सम्पूर्ण कला विकसित होकर केवलज्ञान होता है; इसलिए यहाँ नि:शङ्कता पर वज़न देकर आचार्यदेव ने कहा है कि जीव स्वयं ही ज्ञान है; इसलिए ज्ञान की जीव से भिन्नता होने की शङ्का बिल्कुल नहीं करना चाहिए।

धर्म करने के लिए आत्मा के स्वरूप को जानना चाहिए। आत्मा का स्वरूप कैसा है - उसका यह वर्णन चलता है। आत्मा ज्ञानस्वरूपी है; उसका ज्ञान, पर से भिन्न है और आत्मा के साथ एकमेक है। श्रुत, शब्द, रूप, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, कर्म, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश — इन सबसे और अध्यवसान से ज्ञान पृथक् है तथा जीव के साथ वह एकमेक है, अर्थात् जीव ही स्वयं ज्ञान है — ऐसा यहाँ वर्णन किया है।●●

मूल वस्तु तो अन्दर में अलग है

चैतन्यदेव का सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए पहले द्वार के रूप में अर्थात् निमित्तरूप में व्यवहाररूप में नव तत्त्व की श्रद्धा होती है, तथापि परमार्थ सम्यग्दर्शन तो एक अभेद तत्त्व की श्रद्धा से ही होता है, व्यवहारश्रद्धा तो वारदान के समान है; मूल वस्तु तो अन्दर में अलग है। - *पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

जीव की पर्यायों के साथ भी ज्ञान की एकता

'इस प्रकार ज्ञान, जीव से अभिन्न होने से ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म- अधर्म (पुण्य-पाप) है; ज्ञान ही प्रव्रज्या (दीक्षा, निश्चयचारित्र) है — इस प्रकार ज्ञान का जीवपर्यायों के साथ भी अव्यतिरेक निश्चयसाधित देखना, अर्थात् निश्चय द्वारा सिद्ध हुआ समझना -अनुभव करना।'

जीवद्रव्य के साथ ज्ञान एकमेक होने से जीव की पर्यायों के साथ भी वह एकमेक है — ऐसा अब कहते हैं।

आत्मोन्मुख ज्ञान ही सम्यक्त्व है

आत्मा से अभिन्न होने के कारण ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है। अनादि काल से आत्मस्वभाव को भूलकर पर में एकता मानता था, इससे ज्ञान, स्वाश्रय छोड़कर पराश्रय में ही रुकता था; वह ज्ञान, मिथ्यात्व है और पर से भिन्न आत्मस्वभाव को जानकर उस स्वभाव की ओर उन्मुख होनेवाला ज्ञान ही सम्यक्त्व है। यहाँ ज्ञानगुण की बात नहीं है, परन्तु स्वभावोन्मुख ज्ञानपर्याय की बात है। ज्ञान की जो अवस्था, पर का और पुण्य-पाप का लक्ष्य छोड़कर स्वभावोन्मुख हुई, वह ज्ञान ही आत्मा है; उसका आत्मा के साथ किंचित् भेद नहीं है और ज्ञान की अवस्था जहाँ आत्मस्वभावोन्मुख

हुई, वहाँ परवस्तुओं और पुण्य-पाप के साथ एकत्व की मान्यता दूर हुई तथा ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय हुआ; इसलिए वह ज्ञान ही सम्यक्त्व है। शरीर की क्रिया में अथवा पुण्य-पाप के भाव में ज्ञान नहीं है, इसलिए उनमें सम्यग्दर्शन भी नहीं है, उनसे सम्यग्दर्शन होता भी नहीं है।

मिथ्याज्ञान अधर्म और सम्यक्ज्ञान धर्म

नवतत्त्वों में से सम्यग्दर्शन कौन-सा तत्त्व है ? पुण्य या पापतत्त्व में सम्यग्दर्शन नहीं आता; सम्यग्दर्शन तो संवरतत्त्व है। स्वभाव की प्रतीति करनेवाला ज्ञान ही संवरतत्त्व है और वही सम्यग्दर्शन है। पैसा खर्च करने से, शरीर की क्रिया से अथवा पुण्य से संवर नहीं होता, परन्तु स्वभाव का आश्रय करके जो ज्ञान, आत्मा के साथ अभेद हो, वह ज्ञान ही संवरतत्त्व है, और वही धर्म है। मिथ्यामति -श्रुतज्ञान, परनिमित्तों से ज्ञान मानकर पर-विषयों में ही रुकता है और वहाँ एकत्वबुद्धि करता है — मानों पर में ही ज्ञान का अस्तित्व हो! ऐसा वह मानता है; वह ज्ञान, आत्मा नहीं परन्तु अनात्मा है; वह मिथ्याज्ञान ही अधर्म है, वही असंयम है और जो ज्ञान, त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसमें एकाकार होता है, वह सम्यग्ज्ञान है, वह ज्ञान ही सम्यक्त्व है, वही संयम है। ऐसी प्रतीति करना, वह जैनधर्म की अथवा आत्मस्वभाव की इकाई है; इसे समझे बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

कौन-सी क्रिया में आत्मा है ?

वर्तमान दशा में अपूर्ण ज्ञान और पुण्य-पाप होने पर भी, जिस जीव ने अपने ज्ञान में अन्तरङ्ग परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव की रुचि की है, वह जीव, कुदेव-कुगुरु-कुधर्म के सेवन से तो पीछे हट गया;

सुदेव-गुरु के आश्रय की रुचि भी उसके दूर हो गयी; अपनी अपूर्ण दशा का आश्रय भी छूट गया और ज्ञान में अपने पूर्ण स्वभाव की रुचि हुई — ऐसा ज्ञान ही सम्यक्त्व है; ऐसा ज्ञान करना ही धर्म की क्रिया है। पुण्य की क्रिया से अथवा जड़ की क्रिया से धर्म नहीं होता क्योंकि उस क्रिया में आत्मा नहीं है; ज्ञान की क्रिया में ही आत्मा है, और ज्ञान की क्रिया से ही धर्म होता है।

अज्ञानी बँधता है, ज्ञानी छूटता है

स्व को जानने के साथ पर को भी जाने — ऐसा सम्यग्ज्ञान है और स्व से च्युत होकर अकेले पर को जाने, वह मिथ्याज्ञान है। जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है, वह पाप करे तो भी बँधता है और पुण्य करे तो भी बँधता है क्योंकि उसने पुण्य-पाप में ही अपने आत्मा की एकता मानी है परन्तु ज्ञानस्वभाव के साथ एकता नहीं मानी है; इसलिए वह जीव, विकार से नहीं छूटता, किन्तु विकार में एकत्व मानकर बँधता ही जाता है, उसका संसार नाश नहीं होता है।

जिसने अपने ज्ञान को आत्मोन्मुख नहीं किया और पुण्य-पाप से पृथक् नहीं जाना, वह जीव, पुण्य से भी बँधता ही जाता है, किन्तु मुक्त नहीं होता और जिस जीव ने अपने ज्ञान को पुण्य-पाप से पृथक् जानकर स्वभावोन्मुख किया है, वह जीव वास्तव में पुण्य-पाप सं बँधता नहीं है परन्तु स्वभाव के आश्रय से बन्धन से छूटता ही जाता है। त्रिकाली ज्ञानस्वभाव जैसा है, वैसा जानकर उसकी रुचि / प्रतीति की है, वह जीव सम्यग्दृष्टि हुआ।

सम्यग्दर्शन क्या है ?

यहाँ आचार्यदेव ने आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होते ज्ञान

को ही सम्यक्त्व कहा है, परन्तु देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को सम्यक्त्व नहीं कहा क्योंकि वह पर है; परोन्मुख होते हुए ज्ञान को तो यहाँ अचेतन कहा है। स्वभावोन्मुख होकर अपने आश्रय से ज्ञान द्वारा स्वभाव की प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन है। नव तत्त्व के लक्ष्य से नव तत्त्वों की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन नहीं है। आत्मा के कारण अजीव शरीरादि चलते हैं-ऐसा माननेवाले ने तो वास्तव में नव तत्त्व को भी नहीं माना है, जीव और अजीव को एक ही तत्त्व माना है; और पुण्य से धर्म होता है, शरीर की क्रिया से धर्म होता है — ऐसा माननेवाले ने भी पुण्यतत्त्व को तथा संवर-निर्जरातत्त्वों को पृथक् नहीं माना है; वह तो मिथ्यादृष्टि है ही, किन्तु कोई जीव नव तत्त्वों को माने, किन्तु उनका लक्ष्य छोड़कर अपने स्वभाव की ओर उन्मुख न हो तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। 'मैं जीवतत्त्व हूँ, अजीवतत्त्व मुझसे पृथक् हैं' इत्यादि विकल्प करके ज्ञान रुके तो वह राग-द्वेषरूप अध्यवसान है, उसमें ज्ञान नहीं है।

स्व-पर का भेदज्ञान

श्रुत से लेकर अध्यवसान तक समस्त पर को अचेतन कहकर परवस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय से तो ज्ञान का बिल्कुल भिन्नत्व बताया; तथा जीव स्वयं ही ज्ञान है और उसके गुण-पर्यायें भी ज्ञान हीं हैं — ऐसा कहकर जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को अभेदरूप एक 'ज्ञान' में ही समाविष्ट कर दिया है। इस प्रकार अपने ज्ञानस्वभाव को सर्व पर से भिन्न जानकर, जो ज्ञान अपने द्रव्यस्वभाव में उन्मुख होकर लीन हुआ, वह ज्ञान स्वयं ही द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेदरूप आत्मा है। इस प्रकार आचार्यदेव ने ज्ञान को ही

आत्मा कहा और ज्ञान के अतिरिक्त समस्त पर को अचेतन कहकर उनसे ज्ञान को स्पष्टतया भिन्न बतलाया है। इस प्रकार स्व-पर का भेदविज्ञान कराया है।

अनेकान्त और सम्यक् एकान्त

'ज्ञान ही सम्यक्त्व है' — ऐसा कहने से एकान्त नहीं होता परन्तु उसी में अनेकान्त आ जाता है। ज्ञान ही सम्यक्त्व है — ऐसा कहने से ज्ञान के अतिरिक्त दूसरे गुणों का अभाव नहीं हुआ परन्तु ज्ञान में वे अभेदरूप से आ गये; वही अनेकान्त है और अभेद ज्ञानस्वभाव में ज्ञान ढला, वह सम्यक् एकान्त है; सम्यक् एकान्त, अनेकान्त का प्रयोजन है, वह धर्म है।

ज्ञान ही संयम है

स्वभाव में स्थित हुआ ज्ञान ही संयम है, उस ज्ञान से भिन्न कोई संयम नहीं है। छह काय के जीवों की हिंसा से निवृत्ति का शुभराग या पञ्च महाव्रत के विकल्प-वह संयम नहीं है। पर का और राग का आश्रय छोड़कर त्रिकाल आत्मस्वभाव के आश्रय से जो ज्ञान स्थिर हुआ, वह ज्ञान ही संयम है। शरीर की क्रिया में संयम नहीं है; पर जीव नहीं मरा, वह संयम नहीं है। ज्ञानस्वभाव को प्रतीति में लेकर ज्ञान उसमें स्थिर हुआ, वही संयम भाव है।

ज्ञान स्वयं ही जीव है, स्वयं ही सम्यक्त्व है, स्वयं ही चारित्र है। पहले ज्ञान पर में युक्त होता था, वह असंयम था और फिर ज्ञान ही जीव है — ऐसा मानकर समस्त इन्द्रियों से पराङ्मुख होकर ज्ञान अपने आत्मा में युक्त हुआ, वही संयम है। पर के कारण जिसने ज्ञान माना, उसका ज्ञान परविषयों में ही युक्त होता है; जो ज्ञान, परविषयों में युक्त होकर वहाँ एकता मानता है, वह ज्ञान

लम्पटी है; जो स्वभाव में लीन हो, वह ज्ञान संयमी है। इस प्रकार ज्ञान ही संयम है।

ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है

ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है। अज्ञानी जीव, शास्त्र के अस्तित्व से ज्ञान का अस्तित्व मानते हैं परन्तु शास्त्र के आधार से ज्ञान नहीं है। शास्त्रों में से ज्ञान नहीं निकलता परन्तु ज्ञान में से शास्त्र निकले हैं, अर्थात् ज्ञान द्वारा जानकर जो वाणी निकली, वह शास्त्र है।

आजकल भरतक्षेत्र में कितने सूत्र हैं ? इस सम्बन्ध में अनेक जीव वाद-विवाद करते हैं। कोई कहते हैं — अमुक आगम विद्यमान है और दूसरे विच्छेद हैं; कोई अमुक आगम बतलाते हैं; लेकिन यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि आगम में ज्ञान है ही नहीं; ज्ञान तो आत्मा के आधार से है। वर्तमान में सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मा के साथ ज्ञान की एकता होकर जितना ज्ञान प्रगट हुआ, उतना अंगपूर्वरूप सूत्र का अस्तित्व है; यह ज्ञान ही सूत्र है; पृष्ठों या शास्त्र में अंगपूर्व का ज्ञान नहीं है। पृष्ठ, अक्षर और वाणी तो पुद्गल हैं। ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होने से जो ज्ञान जागृत हुआ, उस ज्ञान को ही अंगपूर्वरूप सूत्र कहा जाता है।

अज्ञानी जीव ग्यारह अंग तक पढ़ जाये तो भी उसका ज्ञातृत्व यथार्थ ज्ञान नहीं है; उसके ज्ञान को तो यहाँ अचेतन में गिना है। ज्ञानी जीव का आत्मोन्मुख ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है; सूत्र का अर्थ जड़ सूत्र से नहीं है, लेकिन सूत्र का अर्थ है ज्ञान। धर्मी जीव का इस समय जितना सर्वोत्कृष्ट ज्ञान हो, उतना ज्ञान इस समय विद्यमान है; वह ज्ञान, पुण्य-पापरहित है। सूत्र अथवा ज्ञान कहने से लोग जड़ पृष्ठों को देखते हैं और उनसे ज्ञान मानते हैं परन्तु वे

तो अचेतन हैं, उनमें ज्ञान नहीं है। शास्त्र में लिखे हुए अक्षरों को कहीं शास्त्र नहीं जानता। उसमें क्या लिखा है? — उसके अभिप्राय को तो ज्ञान जानता है; इसलिए ज्ञान ही सूत्र है। इस समयसार में 415 सूत्र हैं, परन्तु वह स्वयं कहीं सूत्रों के आशय को नहीं जानता; जो ज्ञान, आत्मस्वभावोन्मुख होता है, वही ज्ञान, सूत्रों के आशय को जाननेवाला है। आत्मा की ज्ञानदशा कहीं जड़ में नहीं होती; इसलिए जो ज्ञान प्रगट होकर आत्मा में अभेद हुआ, वह ज्ञान ही बारह अंग और चौदह पूर्व है।

सूत्र के शब्दों से और सूत्र की ओर के राग से ज्ञान पृथक् है — ऐसा समझकर, उसका आश्रय छोड़कर जो ज्ञान अपने आत्मा की ओर उन्मुख होता है, वही ज्ञान, सूत्रों के कहने का आशय क्या है? — उसे समझ सकता है। सूत्रों का अथवा राग का आश्रय मानकर रुक जाये तो वह ज्ञान, सूत्र के आशय को नहीं समझ सकता। कदाचित् सूत्र तो लिखे हों, लेकिन उनके आशय को समझनेवाला ज्ञान न हो तो? तो वे सूत्र विच्छेदरूप ही कहलायेंगे; इसलिए सम्यग्ज्ञान ही सूत्र है।

इस जगत में परवस्तु है-सूत्र हैं; अज्ञानदशा में उस ओर उन्मुख होता था, वह उन्मुखता बदलकर ज्ञान, स्वभावोन्मुख हुआ, तब वह ज्ञान अंगपूर्व के आशय को समझता है। इसमें निश्चय और व्यवहार दोनों आ गये, लेकिन जब निश्चय की ओर ढलता है, तब व्यवहार का ज्ञान सच्चा होता है — ऐसा भी आया।

तीर्थङ्कर भगवान की दिव्यवाणी में अंग-पूर्व का ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह वाणी स्वयं अचेतन है। धर्मी जीव के आत्म -स्वभावोन्मुख होने से जो ज्ञान विकसित हुआ, वह ज्ञान ही अंग -पूर्वरूप सूत्र है।

ज्ञान ही धर्म-अधर्म

ज्ञान ही धर्म-अधर्म है। यहाँ धर्म का अर्थ पुण्य और अधर्म का अर्थ पाप — ऐसा समझना चाहिए। ज्ञान ही पुण्य-पाप है।

देखो, पहले टीका में 'अध्यवसान ज्ञान नहीं है' — ऐसा कहकर आचार्यदेव ने ज्ञान को और पुण्य-पाप को भिन्न बतलाया था, और यहाँ कहते हैं कि ज्ञान ही पुण्य-पाप है। पहले तो पर से भिन्न ज्ञानस्वभाव बतलाकर भेदज्ञान कराना था, इसलिए वहाँ पुण्य-पाप को ज्ञान से भिन्न कहा था; और यहाँ अब साधकपर्याय का ज्ञान कराते हैं; साधकपर्याय में पुण्य-पाप होते हैं — इतना मात्र बतलाने के लिए यहाँ कथन है, परन्तु पहले तो ज्ञान, पुण्य-पाप से पृथक् है — ऐसा जान लेने के पश्चात् साधकदशा की यह बात है। पुण्य-पाप होते हैं, वे ज्ञान की (आत्मा की) अवस्था में होते हैं, पर में नहीं होते और न पर के कारण होते हैं। धर्मी जीव का ज्ञान उन राग-द्वेष को भी जानता है। साधकदशा में ज्ञान का परिणमन हीन है; ज्ञान ही विभाव में रुकता है, इसलिए ज्ञान ही पुण्य-पाप है — ऐसा यहाँ कहा है। पहले तो पृथक् जान लेने के बाद की ही यह बात है; स्वभावदृष्टिपूर्वक अपूर्ण पर्याय का ज्ञान कराया है। साधकदशा में जो पुण्य-पाप होते हैं, वे कर्म के कारण नहीं होते परन्तु ज्ञानस्वभाव में पूर्ण स्थिर नहीं हुआ, इस कारण पुण्य-पाप होते हैं। यह पुण्य-पाप एकत्वबुद्धि से नहीं हैं।

ज्ञान, पुण्य-पाप नहीं है — ऐसा पहले कहा था, वहाँ तो एकत्वबुद्धि के पुण्य-पाप थे। जहाँ पुण्य-पाप में एकत्वबुद्धि थी, वहाँ सच्चा ज्ञान ही नहीं था; एकत्वबुद्धि के पुण्य-पाप और सच्चा ज्ञान - दोनों एक साथ नहीं होते; इसलिए ज्ञान और पुण्य-पाप को

पृथक् कहा। वहाँ पुण्य-पाप, ज्ञान नहीं है — ऐसा कहकर पुण्य-पाप में एकत्वबुद्धि छुड़ाई थी। पुण्य-पाप में एकत्वबुद्धि छूटकर सम्यग्ज्ञान हुआ, वहाँ सम्यग्ज्ञान होने पर भी पुण्य-पाप होते हैं; इस प्रकार साधकदशा में सम्यग्ज्ञान और पुण्य-पाप दोनों साथ हैं, इसलिए यहाँ 'ज्ञान ही पुण्य-पाप है' — ऐसा कहा है। सम्यग्ज्ञान होने से वह ज्ञान, अवस्था को भी जानता है कि आत्मा की अवस्था अपूर्ण है और पुण्य-पाप होते हैं।

आत्मा की अवस्था में पुण्य-पाप होते हैं, वह त्रिकाल में नहीं है। ज्ञानी जीव त्रिकालस्वभाव के आश्रय से अवस्था का ज्ञान करता है; अज्ञानी जीव, पुण्य-पाप को जानकर उनमें एकताबुद्धि करता है; इसलिए उसके तो पुण्य-पाप ही हैं; ज्ञान नहीं है। उन पुण्य-पाप में ज्ञान का अभाव है। ज्ञानी को आत्मस्वभावोन्मुख होने से सम्यग्ज्ञान हुआ और पुण्य-पाप में एकत्वबुद्धि छूट गई, तथापि अभी साधकपर्याय में पुण्य-पाप होते हैं, उन्हें वह ज्ञानी अब बराबर जानता है। इस प्रकार द्रव्य-पर्याय के ज्ञान की सन्धि है।

जो पुण्य-पाप से लाभ मानते हैं, वे तो पुण्य-पाप से भिन्न ज्ञानस्वभाव को भूल जाते हैं, उन्हें सम्यग्ज्ञान नहीं होता और दूसरे कोई जीव, 'आत्मा पुण्य-पापरहित शुद्ध ही है' — ऐसा एकान्तरूप से मानकर 'पुण्य-पाप, कर्म के घर के हैं' — ऐसा मान बैठते हैं, वे जीव, पर्याय को भूल जाते हैं, उन्हें भी सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

यहाँ तो ज्ञान ही पुण्य-पाप है — ऐसा कहकर पारिणामिकभाव की पर्याय का वर्णन किया है। पुण्य-पाप भी पारिणामिकभाव से होते हैं। पारिणामिकभाव ही पर्याय में विभावरूप से परिणमित हुआ है; कर्म के उदय से पुण्य-पाप नहीं हुए हैं। अभी

पारिणामिकभाव पूर्णस्वभावरूप परिणमित नहीं हुआ, इसलिए पुण्य-पाप होते हैं।

जीवद्रव्य और जीव की पर्यायों के साथ ज्ञान की एकता

प्रथम द्रव्य के साथ ज्ञान का अभेदपना बतलाया कि जीव ही ज्ञान है, जीव और ज्ञान में पृथक्त्व की शङ्का बिल्कुल नहीं करना चाहिए। इस प्रकार पहले अभेदस्वभाव की श्रद्धा कराके, फिर पर्याय का भी ज्ञान कराया कि ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अङ्ग-पूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही पुण्य-पाप है और ज्ञान ही दीक्षा-निश्चयचारित्र है। इस प्रकार जीवद्रव्य के साथ और जीव की पर्यायों के साथ ज्ञान की एकता और परद्रव्य तथा उसकी पर्यायों से ज्ञान की भिन्नता निश्चय द्वारा सिद्ध हुई समझना-अनुभवन करना, उसका नाम भेदविज्ञान है, वह अपूर्व धर्म है।

जहाँ रुचि, वहाँ निःशङ्कता

स्त्री-लक्ष्मी-भोजनादि विषयों में कभी सुख देखा नहीं है, और वहाँ सुख है भी नहीं, तथापि 'आत्मा में सुख है', उसे भूलकर परविषय में सुख मान रखा है। पैसा, मकान, भोजन शरीरादि तो परमाणु के बने हुए हैं-अचेतन हैं; क्या उन अचेतन परमाणुओं में सुख है? उनमें कहीं भी सुख नहीं और न वे सुख के कारण ही हैं, तथापि विपरीत रुचि के कारण वहाँ निःशङ्कतया सुख की कल्पना कर रखी है।

जहाँ सुख नहीं है, वहाँ माना है; इसलिए वह मान्यता मिथ्या है। यदि विपरीत रुचि को पलटकर आत्मा की रुचि करे तो आत्मा के स्वभाव में सुख है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो। यदि लड्डू में सुख हो तो उसका यह मतलब हुआ कि जब लड्डू खाये, तब

आत्मा में सुख आये, और जब वह विष्टारूप होकर बाहर निकल जाये, तब आत्मा में से सुख चला जाये! लड्डू में सुख नहीं है, उसमें जो सुख भासित होता है, वह तो मात्र अज्ञानी की मिथ्याकल्पना है। वह कल्पना तो अपने में स्वयं ही बनायी है। सुख की कल्पना कहाँ होती है — उसका भी कभी विचार नहीं किया है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य किन्हीं भी पदार्थों में न तो कभी सुख देखा है, और न उनमें है ही, तथापि वहाँ सुख की कल्पना खड़ी करके निःशङ्कतया सुख मान लिया है; असत् कल्पना खड़ी की है। पर में सुख न होने पर भी और न कभी देखा होने पर भी, मात्र रुचि के विश्वास से मान लिया है। इसलिए 'देखे तभी मानता है' ऐसा नहीं है परन्तु जहाँ रुचिकर प्रतीति होता है, वहीं निःशङ्क हो जाता है। विपरीत रुचि का बल है इससे, पर में सुख नहीं है – ऐसा लाखों ज्ञानी कहें, तथापि वह अपनी मान्यता को नहीं बदलता। तब फिर अपने आत्मस्वभाव में तो परिपूर्ण सुख है, उसे जानकर मानना वह तो सत् पदार्थ की रुचि है; यदि स्वभाव की प्रतीति और रुचि करे तो स्वभाव का सुख तो ज्ञात हो, और अनुभव में आये ऐसा है।

पर में सुख माना, वह तो असत् प्रतीति थी, इससे दुःख था। पर में सुख है ही नहीं तो उसकी प्रतीति करने से कैसे सुख प्रगट हो? अपने स्वभाव में सुख है, उसे मानना वह सत् प्रतीति है और ऐसी प्रतीति करे तो स्वभाव में से सुख प्रगट होता है। ज्ञान में जो ज्ञात हो, उसी को माने – ऐसा जीव की श्रद्धा का स्वभाव नहीं है परन्तु जो अपने को रुचता है, उसे वह मानता है, और वहाँ निःशङ्क हो जाता है। यदि स्वभाव की रुचि करे तो स्वभाव के सुख का तो

ज्ञान में अनुभव हो सकता है। आत्मा का सुख पर में हैं — ऐसी विपरीत श्रद्धा ही महान पाप है।

आत्मा का श्रद्धागुण ऐसा है कि जहाँ रुचि हो, वहाँ वह निःशङ्क हो जाता है। अपने स्वभाव में निःशङ्क हो तो धर्म होता है, और पर में सुख मानकर वहाँ निःशङ्क हो तो अधर्म होता है। पर को जानने से आत्मा का ज्ञान पर में रुक गया है और वहीं सुख मान लिया है परन्तु उस मान्यता में, उस ज्ञान में या परवस्तु में स्वयं कभी सुख नहीं देखा है और उस किसी में सुख नहीं है — ऐसा अनन्त तीर्थङ्करों ने कहा है, तथापि स्वयं उस मान्यता को नहीं छोड़ता।

देखो! अनन्त तीर्थङ्कर कहें तो भी अपने को जो बात रुचिकर प्रतीत हुई, उसे नहीं छोड़ता — ऐसी दृढ़तावाला है। उसी प्रकार स्वभाव की रुचि से जिसे स्वभाव में सुख की श्रद्धा हुई, वह जीव ऐसा दृढ़ होता है कि यदि इन्द्र भी उसे श्रद्धा से डिगाने आयें, तब भी न डिगे; सारा जगत न माने और प्रतिकूल हो जाये, तब भी उसके स्वभाव की श्रद्धा न बदले। सम्पूर्ण आत्मा केवलज्ञान में जैसा प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, वैसा उस जीव को भले ही प्रत्यक्ष ज्ञात न हो परन्तु जैसा केवली ने देखा है, वैसे ही परिपूर्ण आत्मस्वभाव की दृढ़ प्रतीति उसे होती है। जैसा आत्मा केवली की श्रद्धा में है, वैसा ही उस साधक धर्मात्मा की श्रद्धा में है; उस श्रद्धा में वह निःशङ्क है, किसी की दरकार नहीं रखता। ऐसी प्रतीति करना ही धर्म का उपाय है।

अज्ञानी जीव, अफीम खाने में अथवा अग्नि में जल-मरने आदि में सुख की कल्पना करते हैं। क्या अफीम या अग्नि में सुख

है ? वहाँ सुख नहीं है, मात्र अज्ञान से मान रखा है। अज्ञान द्वारा पर में सुख की कल्पना करने में भी पर का आश्रय नहीं करता, अपने आप कल्पना करके, जहाँ नहीं होता वहाँ भी मान लेता है; तब फिर अपने स्वभाव में सुख है, उसे किसी पर का आश्रय नहीं है, और उस स्वभाव की श्रद्धा भी पराश्रय-रहित है।

आत्मा पर से और विकार से भिन्न है, और ज्ञान के साथ एकमेक है — ऐसा जाने तो, ज्ञान पर से हटकर अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हो - वह धर्म है।

ज्ञान ही दीक्षा है

जो ज्ञान, आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होकर प्रतीति करता है, उस ज्ञानरूप परिणमित हुआ आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, वही सूत्र है, वही संयम है, वही दीक्षा है; और वही सुख तथा धर्म है। वस्त्र परिवर्तित हो जाये अथवा शरीर की अवस्था वस्त्ररहित हो जाये तो उसका नाम कहीं दीक्षा या प्रव्रज्या नहीं है, क्योंकि वह तो अचेतन हैं। शरीर और रागरहित आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें जो ज्ञान एकाग्र हुआ, वह ज्ञान ही दीक्षा है और वह ज्ञान, आत्मा से पृथक् नहीं है; इसलिए आत्मा ही दीक्षा है।

मोक्षमार्ग : स्व-पर का भेदविज्ञान

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से आत्मा एकमेक है; आत्मा से बाहर कहीं भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं हैं; इस प्रकार जीवद्रव्य और जीव की दर्शन-चारित्रादि जितनी पर्यायें हैं, उनके साथ ज्ञान को अभिन्नरूप से देखना चाहिए, अर्थात् प्रत्येक पर्याय में अन्तर में ज्ञानस्वभाव का निश्चयसाधित अनुभवन करना चाहिए। ज्ञान को स्वभाव से एकमेक और पर से बिल्कुल भिन्न अनुभव करना

–जानना–मानना चाहिए। वह भेदज्ञान है और वही मोक्षमार्ग है।

हे जीव! तेरे ज्ञान को और सर्व गुणों को ज्ञान के साथ एकमेक बतलाया और पर से भिन्न बतलाया; इसलिए तू अपने गुणों को –अपने धर्म को पर में मत ढूँढ़, परन्तु अपने स्वभाव में ही देख– अपने स्वभाव को पहचान! तेरे गुण पर में नहीं हैं; इसलिए परसन्मुख देखने से तेरे गुण प्रगट नहीं होंगे। तेरे गुण, स्वभाव में एकमेक हैं; इसलिए स्वाभावोन्मुख देखने से वे प्रगट होंगे, इसलिए स्व–पर का भेदज्ञान करके स्वसन्मुख हो! ●●

संस्कार डाल तो तुझे सत् प्रगट होगा ही

अरे! दुनिया को क्या पड़ी है? मैंने यह किया, मैंने कमाया और बड़ा उद्योगपति बन गया; पिता के पास कुछ नहीं था किन्तु मैंने अपने हाथों के बल से प्राप्त किया – इस प्रकार दुनिया पागलपन में जीवन व्यतीत कर देती है। प्रभु! तूने बाहर का कुछ किया नहीं है, कर भी नहीं सकता; तूने मात्र राग और मिथ्यात्वभाव किया है। अब, तू अपनी दिशा पलट दे! अन्तर में तू नित्य–स्थायी तत्त्व है; उसके तल पर दृष्टि लगा और उसके गहरे संस्कार डाल! वहाँ बैठने से आत्मा को स्थायी विश्राम मिलेगा। राग और पर्याय में बैठने से / रहने से तुझे दुःख होगा। एक समय की पर्याय भी तेरा ध्रुवधाम नहीं है। अहा! अन्तर में जहाँ तेरा ध्रुवधाम–भगवान आत्मा है, वहाँ जा! उसके संस्कार डाल तो तुझे सत् प्रगट होगा ही।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

ज्ञानस्वभाव के अनुभव का उपदेश

अब इस प्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक द्वारा और सर्व दर्शनादि जीव स्वभावों के साथ अव्यतिरेक द्वारा अतिव्याप्ति को और अव्याप्ति को दूर करता हुआ, अनादि विभ्रम जिसका मूल है ऐसे धर्म-अधर्मरूप (पुण्य-पापरूप, शुभ-अशुभरूप) परसमय को दूर करके, स्वयं ही प्रव्रज्यारूप को प्राप्त करके (अर्थात् स्वयं ही निश्चयचारित्ररूप दीक्षाभाव को प्राप्त करके), दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थितिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, मोक्षमार्ग को अपने में ही परिणत करके, जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त किया है ऐसा, त्याग-ग्रहण से रहित, साक्षात् समयसारभूत, परमार्थरूप शुद्धज्ञान एक अवस्थित (निश्चल) देखना (अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से अनुभवन करना) चाहिए।

अब आचार्यदेव सर्व कथन के साररूप कहते हैं कि यहाँ बतलाया है, इस प्रकार सर्व परद्रव्यों से पृथक् और अपने स्वभाव से अभेद — ऐसे शुद्धज्ञान को देखना, ऐसे शुद्धज्ञान का अनुभवन करना, इसी में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग आ जाता है।

भेदज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती

आत्मा की ओर ढलती हुई निर्मलपर्याय को यहाँ जीव-स्वभाव

कहा है क्योंकि वह पर्याय, स्वभाव के साथ अभेद है। आत्म –स्वभावोन्मुख होने से जो सम्यग्दर्शनादि निर्मलदशाएँ प्रगट हुईं, उनसे ज्ञान पृथक् नहीं है, अर्थात् ज्ञानस्वरूपी आत्मा और निर्मलपर्यायें अभेद हैं।

जो जीव अपने ज्ञान की आत्मा के साथ एकता और पर से भिन्नता मानता है, वह जीव अपने ज्ञान को परलक्ष्य से छुड़ाकर आत्मा में एकाग्र करता है; इसलिए उसका ज्ञान शुद्धस्वभावरूप परिणमित होता है और विकार से मुक्त हो जाता है। जैसे, घर में जिस पुत्र के साथ नहीं बनती, उससे अलग होता है, किन्तु जिससे प्रेम हो उससे अलग नहीं होता; उसी प्रकार आत्मा को जिन पदार्थों पर प्रेमभाव (एकताबुद्धि) हो, उनसे वह अपने को पृथक् नहीं मानता और उनका लक्ष्य छोड़कर स्वभाव में नहीं आता, परन्तु पर को पृथक् माने तो उसका लक्ष्य छोड़कर ज्ञानस्वभाव की ओर ढलकर उसमें एकाग्रता करे।

जो जीव किसी भी परवस्तु से अपने को सुख या धर्म होना मानता है, वह जीव उस वस्तु से अपने को पृथक् नहीं मानता; और जिससे अपने को पृथक् नहीं मानता, उस पर से अपना लक्ष्य नहीं हटाता। पर के ऊपर से ज्ञान का लक्ष्य नहीं हटाता, इससे पृथक् होकर स्वभाव में नहीं आता और उसकी मुक्ति नहीं होती क्योंकि पर से भिन्नत्व का ज्ञान (भेदज्ञान) ही मुक्ति का उपाय है।

जो शरीरादि में सुख मानता है, उसे उन शरीरादि के प्रति प्रेम है इसलिए उनसे वह अपने को पृथक् नहीं मानता। उनसे पृथक् है, तथापि नहीं मानता – वह मान्यता अज्ञान है। जिसे स्वभाव की रुचि है–प्रेम है, वह जीव, स्वभाव के आधार से प्रगट हुई

निर्मलपर्यायों से अपने को पृथक् नहीं मानता; विकार को अपने से पृथक् मानता है परन्तु श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को पृथक् नहीं मानता क्योंकि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तो आत्मा के साथ ही एकमेक हैं।

अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष का निवारण

यहाँ ज्ञानस्वभाव से आत्मा की पहचान करायी है। ज्ञान, आत्मा में है और पर में नहीं है-ऐसा समझे तो अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष दूर होते हैं। आत्मा का ज्ञान परवस्तु से होता है — ऐसा जो मानता है, उसे अतिव्याप्ति दोष आता है। आत्मा का ज्ञान, आत्मा में भी रहता है, और उसके अतिरिक्त दूसरे पदार्थों में भी रहता है — ऐसा मानना, वह अतिव्याप्ति दोष है; और आत्मा अपने श्रद्धा-ज्ञानादि से भिन्न है - ऐसा मानना, वह अव्याप्ति है। आत्मा का ज्ञान, पर का कुछ भी करता है - ऐसा मानना अतिव्याप्ति दोष है। आत्मा का ज्ञान, पर का कुछ नहीं कर सकता, और परपदार्थों से किञ्चित् ज्ञान नहीं होता; ज्ञान अपने आत्मा से और श्रद्धा आदि पर्यायों से किञ्चित् भिन्न नहीं है — ऐसा समझना, वह सम्यग्ज्ञान है, उसमें अतिव्याप्ति या अव्याप्ति दोष नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वभाव का अनुभवन करना चाहिए — ऐसा यहाँ उपदेश है। उस ज्ञानस्वभाव का यह वर्णन है।

संसार का मूल मिथ्यात्व, मोक्ष का मूल सम्यक्त्व

अपने ज्ञान को पराधीन माना है, पर के साथ एकमेक माना है, वह अनादि का विभ्रम है। वह अनादि-विभ्रम, पुण्य-पाप का मूल है और वही संसार का मूल है। अपने स्वाधीन ज्ञान की प्रतीति करे तो वह अनादि-विभ्रम दूर होकर सम्यक्त्व होता है, वह सम्यक्त्व ही मोक्ष का मूल है। दर्शनप्राभृत में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव

का सूत्र है – '**दंसणमूलो धम्मो**' अर्थात् धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। संसार का मूल मिथ्यात्व है और मोक्ष का मूल सम्यक्त्व है।

ज्ञानी की स्वभाव में और अज्ञानी की पुण्य-पाप में एकता

विकार और आत्मा की एकत्वबुद्धि, वह अनादि-विभ्रम है; वह विभ्रम ही पुण्य-पाप का मूल है और पुण्य-पाप, परसमय है। यहाँ अज्ञानी के ही पुण्य-पाप की बात है क्योंकि उसी को पुण्य-पाप में एकताबुद्धि है। ज्ञानी को पुण्य-पाप में एकताबुद्धि नहीं है, इसलिए यहाँ उसके पुण्य-पाप की गिनती नहीं की है। आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा करके उसमें एकता-अभेदता हो, वह स्वसमय है और वह पुण्य-पाप का नाश करके मोक्ष प्रगट करने का मूल है। एकरूप स्वभाव में से भेद पड़कर जो पुण्य-पाप होते हैं, वह अधर्म हैं। ध्रुव-चैतन्यस्वभाव में एकता का मूल सम्यक्त्व है और पर के साथ एकता मानकर पुण्य-पापरूप द्वित्व होने का मूल मिथ्यात्व है। ज्ञानी को पुण्य-पाप के समय भी स्वभाव की एकता ही होती है, उसे पुण्य-पाप में एकता होती ही नहीं।

अज्ञानी जीव, ज्ञानस्वभाव में एकता न करके पुण्य-पाप में एकता करता है, वह भ्रम है-मिथ्यात्व है; वह भ्रम ही स्वभाव की एकता छोड़कर द्वित्व खड़ा करता है। जो पुण्य-पाप के साथ आत्मा की एकता मानता है, उस अज्ञानी को पुण्य-पाप की ही उत्पत्ति होती है परन्तु ज्ञानस्वभाव की एकता नहीं होती; इसलिए उस भ्रम को ही पुण्य-पाप का मूल कारण कहा है। वह भ्रम दूर होकर सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ज्ञानी के पुण्य-पाप की उत्पत्ति नहीं गिनी है क्योंकि उसके तो आत्मस्वभाव की अभेदता से शुद्धता का ही उत्पाद है।

जिसे पुण्य-पाप के समय भी स्वभाव की एकता की उत्पत्ति भासित होती है, वह सम्यग्दृष्टि है और पुण्य-पाप के समय जिसे पुण्य-पाप की ही उत्पत्ति भासित होती है, किन्तु स्वभाव की एकता भासित नहीं होती, वह मिथ्यादृष्टि है।

श्रद्धा-ज्ञान, आत्मा से बाहर नहीं जाते और श्रद्धा-ज्ञान से आत्मा पृथक् नहीं रहता। श्रद्धा-ज्ञानादि, आत्मा से एकमेक हैं और पर से पृथक् हैं; इस प्रकार पर से भिन्नत्व को समझे, उसे परसन्मुख देखना नहीं रहा परन्तु अपने स्वभाव में ही देखना रहा। उसे स्वभाव के लक्ष्य से प्रतिक्षण ज्ञान की शुद्धता की ही उत्पत्ति होती है।

मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि

शरीर-मन-वाणी का अस्तित्व मुझसे है - ऐसा जो मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है; मेरा अस्तित्व शरीर-मन-वाणी के कारण है — ऐसा माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है। पुण्य-पाप का जो क्षणिक अस्तित्व है, उस पुण्य-पाप को आत्मा के स्वभाव में माननेवाला मिथ्यादृष्टि है और उस पुण्य-पाप के कारण आत्मा टिका है — ऐसा माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है। जिसे पुण्य-पाप के अस्तित्व की ही मुख्यता भासित होती है, वह मिथ्यादृष्टि है और जिसे शुद्धस्वभाव की ही मुख्यता भासित होती है, वह सम्यग्दृष्टि है। प्रति समय शुद्धता का प्रतिभास हो, उसका मूल सम्यग्दर्शन है। एक समय भी यदि स्वभाव की मुख्यता छोड़कर पुण्य-पाप की मुख्यता हो तो उस जीव के धर्म स्थायी नहीं रहेगा।

पुण्य-पाप हैं, वह परसमय है, अनात्मा है। जिसे उसी का अस्तित्व भासित होता है, वह मिथ्यादृष्टि है। पुण्य-पाप के समय ही चैतन्यभाव में जिसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता भासित

होती है, वह सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से पर्याय-पर्याय में स्वभाव की एकता ही बढ़ती जाती है; इसलिए आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भाई! एक बार तू ऐसा तो मान कि ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ, मुझमें रागादि है ही नहीं। पर्याय में रागादि होते हैं, वह मेरे स्वरूप में नहीं हैं और न मेरा ज्ञान उस राग में एकमेक होता है; इस प्रकार राग और ज्ञान की भिन्नता को जानकर एक बार तो राग से पृथक् होकर आत्मा के ज्ञान का अनुभव कर! अपने ज्ञानसमुद्र में एक बार तो डुबकी मार!

धर्म और अधर्म क्या ?

ज्ञान को स्वोन्मुख करके ऐसी प्रतीति की कि ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ, और पुण्य-पाप तथा पर वस्तुएँ मैं नहीं हूँ — यही अनेकान्त है। जो पुण्य-पाप है, वही मैं हूँ, उससे भिन्न कहीं मेरा स्वरूप नहीं है — ऐसा मानना, वह एकान्त है, मिथ्यात्व है, वही पुण्य-पाप की उत्पत्ति का मूल है और मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, पुण्य-पाप मैं नहीं हूँ — ऐसी जो प्रतीति है, वह पुण्य-पाप का नाश करके केवलज्ञान प्रगट करने का मूल है। बस, स्व में एकता का अभिप्राय, वह धर्म है और पर में एकता का अभिप्राय, वह अधर्म है।

जिसे स्व में एकता का अभिप्राय है, उसे स्व के आश्रय से धर्म की ही उत्पत्ति है और जिसे पर में एकता का अभिप्राय है, उसे पर के आश्रय से अधर्म की ही उत्पत्ति होती है। जिसे पुण्य-पाप का ही उत्पाद भासित होता है, उसे उस समय उसका व्यय भासित नहीं होता (अर्थात्) पुण्य-पाप के समय उस पुण्य-पाप को व्यय करने का स्वभाव है, वह उसे भासित नहीं होता। पुण्य-पाप से पृथक् पुण्य-पाप का व्यय करनेवाला स्वभाव जिसे भासित नहीं

होता, वह पुण्य-पाप का व्यय नहीं कर सकता; इसलिए उसे शुद्धता नहीं होती। जिसे पुण्य-पापरहित स्वभाव का भान है, वह जीव, पुण्य-पाप के समय भी स्वभाव की एकतारूप ही उत्पन्न होता है, इसलिए उस समय भी उसे ज्ञान की शुद्धता की उत्पत्ति में ही वृद्धि होती है, पुण्य-पाप की उत्पत्ति नहीं बढ़ती। यह 'सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' है, इसलिए स्वभाव की श्रद्धा से पर्याय में प्रति समय ज्ञान की विशुद्धता होती जाती है, उसका यह वर्णन है।

ज्ञानी को ज्ञान की और अज्ञानी को विकार की वृद्धि

हे भाई! जिस क्षण पुण्य-पाप है, उसी समय आत्मस्वभाव है या नहीं? यदि 'है' तो उस समय तुझे अपना ज्ञान, आत्मस्वभावोन्मुख भासित होता है या पुण्य-पापोन्मुख ही भासित होता है? जिसका ज्ञान, आत्मस्वभावोन्मुख है, उसे तो पुण्य-पाप के समय भी ज्ञान, आत्मस्वभाव में एकतारूप ही कार्य करता है, इस कारण ज्ञान की शुद्धि बढ़ती जाती है और जिसका ज्ञान, आत्मस्वभाव का आश्रय छोड़कर पुण्य-पाप में ही उन्मुख हुआ है, उसे मिथ्याज्ञान है; उसके ज्ञान की हानि होती जाती है, और पुण्य-पापरूप विकारभावों में वृद्धि होती है।

एक ही काल में त्रिकालीस्वभाव और क्षणिक पुण्य-पाप दोनों हैं। उनमें त्रिकालीस्वभाव का अस्तित्व स्वीकार करके, उसका आश्रय करना धर्म का मूल है और त्रिकालीस्वभाव का अस्तित्व स्वीकार न करके पर का अथवा क्षणिक पुण्य-पाप का अस्तित्व स्वीकार करना — मिथ्यात्व है, वह पाप का मूल है।

ज्ञानी को त्रिकालीस्वभावोन्मुख परिणामों से प्रति समय निर्मलपरिणामों की उत्पत्ति ही भासित होती है; विकार की

उत्पत्ति भासित नहीं होती, किन्तु व्यय भासित होता है। अज्ञानी को विकार की उत्पत्ति ही भासित होती है परन्तु शुद्ध आत्मा का अस्तित्व भासित नहीं होता; इसलिए उसके शुद्धता की उत्पत्ति नहीं होती। ज्ञानी को शुद्धात्मा का अस्तित्व भासित होता है और उसमें पुण्य-पाप का अस्तित्व भासित नहीं होता; इसलिए उसे वास्तव में शुद्धात्मा की ही उत्पत्ति होती है और पुण्य-पाप की उत्पत्ति नहीं होती।

स्वभावोन्मुख ज्ञान ही स्वसमय और वही मोक्षमार्ग

इस शास्त्र की दूसरी गाथा में स्वसमय और परसमय का स्वरूप बतलाया था। यहाँ परसमय को दूर करके, स्वसमय को प्राप्त करने की बात कही है। अपने ज्ञानरूपी नेत्रों को जिस ओर घुमाये, उसका अस्तित्व भासित होता है, और उसकी ओर परिणमन होता है। मिथ्यात्व ही पुण्य-पाप का मूल है — ऐसा कहकर मिथ्यात्व का नाश करने को कहा है। मिथ्यात्व को दूर करने से पुण्य-पाप भी दूर हो ही जाते हैं। मिथ्यात्व को पुण्य-पाप का मूल कहा, उसमें यह भी आ गया कि सम्यक्त्व ही चारित्र का मूल है। स्वभाव की श्रद्धा करके, ज्ञान उसमें स्थित हुआ, वही चारित्र है। ज्ञान अपने आत्मस्वभाव में स्थिर हो, उसी में दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग आ जाता है। स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ ज्ञान स्वयं ही मोक्षमार्ग है। आत्मस्वभाव के आश्रय से जो ज्ञान परिणमित हुआ, उसमें मोक्षमार्ग आ गया। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित आत्मा को प्राप्त करना, वह स्वसमय की प्राप्ति है।

यहाँ स्वभावोन्मुख निर्मलदशा को स्वसमय की प्राप्ति कहा है, वही मोक्षमार्ग है, वही धर्म है। मोक्षमार्गरूप आत्मा स्वयं ही

परिणमित हो जाता है। आत्मा के स्वभाव की पहचान करके, आत्मा में ही प्रवृत्तिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, शुद्ध ज्ञान को देखना चाहिए। वह शुद्ध ज्ञान, त्याग-ग्रहण से रहित है; उसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त किया है, वह साक्षात् समयसारभूत और परमार्थरूप है। ऐसे शुद्ध ज्ञान का सब परवस्तुओं से स्पष्टरूप भिन्न अनुभव करना चाहिए।

ज्ञान में पर का ग्रहण-त्याग नहीं

आत्मा के ज्ञानस्वभाव में किसी परवस्तु का ग्रहण या त्याग नहीं है। ज्ञानस्वभाव को पकड़ने से, अर्थात् ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होने से विकार छूट जाता है, वही स्वभाव का ग्रहण और विकार का त्याग है। इसके अतिरिक्त पर का कुछ भी ग्रहण-त्याग ज्ञान में नहीं है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में कहा है कि आत्मा के कहीं हाथ -पैर नहीं हैं कि परवस्तुओं को पकड़े और छोड़े। परमार्थ से तो आत्मा, विकार का भी ग्रहण करनेवाला या छोड़नेवाला नहीं है। 'मैं विकारी हूँ' — ऐसी विपरीतश्रद्धा का त्याग हुआ, वही विकार का त्याग है और 'विकाररहित शुद्धस्वभाव है' — ऐसी श्रद्धा की, वही स्वरूप का ग्रहण है।

अज्ञानदशा में जीव, पर का ग्रहण-त्याग मानता है परन्तु पर का ग्रहण या त्याग कर तो सकता नहीं। नदी में पानी बहता जा रहा हो, वहाँ कोई किनारे पर खड़ा हुआ मनुष्य ऐसा माने कि — 'यह पानी मेरा है' और फिर वह कहे कि 'अब मैं इस पानी को छोड़ देता हूँ', वहाँ वास्तव में उस मनुष्य ने पानी को पकड़ा नहीं है और न छोड़ा ही है; पानी तो अपने प्रवाह में बहता ही जा रहा है। उस मनुष्य ने मात्र पानी के ग्रहण-त्याग की मान्यता की है, परन्तु पानी

का ग्रहण या त्याग तो किया ही नहीं है; मनुष्य तो पानी के ग्रहण –त्याग से रहित है। इस दृष्टान्त से ज्ञान को भी ग्रहण–त्याग से रहित समझना चाहिए।

इस जगत के समस्त पदार्थ अपने–अपने स्वभावक्रम में परिणमित होते हैं; वहाँ ज्ञान तो उनसे पृथक् रहकर उन्हें मात्र जानता है परन्तु उनका ग्रहण या त्याग नहीं करता। परमार्थ से तो ज्ञान में विकार का भी ग्रहण–त्याग नहीं है। 'विकार को छोड़ो! विकार के निमित्तों को छोड़ो! कुसंग को छोड़ो!' — ऐसा उपदेश चरणानुयोग में आता है, वह निमितत का कथन है। उपदेश में तो ऐसे वचन आते हैं परन्तु वस्तुस्वभाव तो परवस्तु के ग्रहण और त्याग से रहित है; ज्ञान में परवस्तुओं का ग्रहण–त्याग नहीं है — ऐसा स्वभाव है।

आज अनेक अज्ञानी कहते हैं कि अब सक्रिय काम करके दिखाओ! परन्तु भाई! तू क्या करेगा? क्या तू ज्ञान से पर का कार्य कराना चाहता है? परवस्तु में कुछ भी ऊँचा–नीचा या आगे–पीछे करने की शक्ति ज्ञान में नहीं है। ज्ञान का स्वभाव ही पर में कुछ न करने का है। ज्ञान तो आत्मा में जानने और स्थिर होने की क्रिया करता है, इसके अतिरिक्त पर में कुछ भी ग्रहण–त्याग नहीं कर सकता। जिस प्रकार किसी दुकान पर दर्पण लगा हो तो उसमें अनेक प्रकार के मोटर, गाड़ी, मनुष्यादि के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं और फिर चले जाते हैं; वहाँ दर्पण ने उन वस्तुओं का ग्रहण या त्याग नहीं किया है; उसी प्रकार ज्ञान में सबकुछ ज्ञात होता है परन्तु ज्ञान किसी का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता। ऐसे ग्रहण–त्याग रहित, साक्षात् समयसारभूत शुद्ध ज्ञान का अनुभव करना चाहिए। ऐसा यहाँ उपदेश है। ●●

गाथा 390 से 404 तक के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ ज्ञान को समस्त परद्रव्यों से भिन्न और अपनी पर्यायों से अभिन्न बताया है, इसलिए अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नामक लक्षण-दोष दूर हो गये।

यहाँ ज्ञान, अर्थात् आत्मा सर्व परद्रव्य से भिन्न और अपनी पर्यायों से अभिन्न है। तात्पर्य यह है कि पुण्य-पाप के भाव अपनी पर्याय है — ऐसा पहले सिद्ध करना है। देखो, अपने में व्याप्त हो और दूसरे में भी व्याप्त हो तो अतिव्याप्ति दोष कहलाता है। जैसे कि अरूपीपना जीव का लक्षण कहें तो उसमें अतिव्याप्ति दोष आता है क्योंकि अरूपीपना जैसे जीव में है, वैसे धर्म-अधर्म आदि दूसरे द्रव्यों में भी है; इसीलिए अरूपीपना, जीव का वास्तविक लक्षण नहीं है।

जीव का लक्षण केवलज्ञान कहें तो उसमें अव्याप्ति दोष आता है क्योंकि केवलज्ञान, जीव की समस्त अवस्थाओं में व्याप्त नहीं है। जो लक्षण, लक्ष्य के एक भाग में व्याप्त हो, उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं। केवलज्ञान जीव की समस्त अवस्थाओं में व्याप्त नहीं है; इसीलिए जीव का लक्षण केवलज्ञान घटित नहीं होता। ज्ञान को समस्त परद्रव्यों से भिन्न बतलाया तो अतिव्याप्ति दोष दूर हुआ और ज्ञान को अपनी पर्यायों से अभिन्न बतलाया; इसलिए अव्याप्ति दोष दूर हुआ — ऐसा कहते हैं।

आत्मा का लक्षण उपयोग है, और उपयोग में ज्ञान प्रधान है; वह (ज्ञान) अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है, इसलिए वह अतिव्याप्तिवाला नहीं है, और अपनी सर्व अवस्थाओं में है, इसलिए अव्याप्तिवाला नहीं है। इस प्रकार ज्ञानलक्षण कहने से अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष नहीं आते।

आत्मा का लक्षण उपयोग है, इस लक्षण से लक्ष्य आत्मा जाना जा सकता है। देखो, व्यवहाररत्नत्रय के राग से जाना जा सके — ऐसा भगवान आत्मा नहीं है। वह तो ज्ञानलक्षण द्वारा ही ज्ञात होता है। यहाँ उपयोग में ज्ञान की मुख्यता ली है। दर्शन की यहाँ बात नहीं की है। कहते हैं – ज्ञान अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है। शरीर मन, वाणी आदि में ज्ञान नहीं है तथा देव-गुरु आदि में भी यह अपना ज्ञान नहीं है, इसलिए उसमें (ज्ञानलक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं आता) ज्ञान, जीव की समस्त अवस्थाओं में व्याप्त है; जीव की कोई अवस्था ज्ञान उपयोग के बिना नहीं होती; इसलिए उसमें अव्याप्ति दोष भी नहीं आता। इस प्रकार अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से रहित जीव का ज्ञानलक्षण यथार्थ है।

बेचारे लोग व्यापार-धन्धे में फँस गये हों, वहाँ धन्धे की धमाल के कारण उन्हें यह अतिव्याप्ति और अव्याप्ति और यह सब समझने की फुरसत / निवृत्ति कहाँ मिलती है? परन्तु भाई! यह तो विशेषरूप से निवृत्ति लेकर समझने की चीज है।

प्रश्न : आप कहते हो तो व्रत-प्रत्याख्यान ले लें परन्तु यह कुछ तो आप कहते नहीं?

उत्तर : व्रत? किसे कहते हैं व्रत? आहा...हा...! सच्चिदानन्द -स्वरूप ज्ञानानन्दस्वरूप त्रिकाल स्वयं है, उसका भान होकर

उसमें रमणता करे — निजानन्दस्वरूप में ही एकाग्र होकर लीन हो जाये, उसका नाम व्रत / निश्चयव्रत है। व्रत कहो या प्रत्याख्यान कहो, सब आत्मा ही है। भाई! इसके अतिरिक्त व्यवहार के विकल्प सब राग हैं। दु:ख है, निश्चयव्रत नहीं।

यहाँ ज्ञान को ही प्रधान करके आत्मा का अधिकार है, क्योंकि ज्ञानलक्षण से ही आत्मा सर्व परद्रव्यों से भिन्न अनुभवगोचर होता है। यद्यपि आत्मा में अनन्त धर्म हैं, तथापि उनमें से कितने ही तो छद्मस्थ को अनुभवगोचर ही नहीं हैं। उन धर्मों को कहने से छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को कैसे पहचान सकता है? और कितने ही धर्म अनुभवगोचर हैं, परन्तु उनमें से कितने ही तो-अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि तो अन्य द्रव्यों के साथ साधारण अर्थात् समान ही हैं, इसलिए उनके कहने से पृथक् आत्मा नहीं जाना जा सकता और कितने ही (धर्म) परद्रव्य के निमित्त से हुए हैं, उन्हें कहने से परमार्थभूत आत्मा का शुद्ध स्वरूप कैसे जाना जा सकता है? इसलिए ज्ञान के कहने से ही छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को पहचान सकता है।

देखो! यूँ तो आत्मा में अनन्त धर्म हैं परन्तु ज्ञानलक्षण से ही आत्मा अनुभवगोचर होता है। यहाँ पण्डित श्री जयचन्दजी ने तीन बातें कही हैं —

(१) आत्मा में कितने ही धर्म तो छद्मस्थ को अनुभवगोचर ही नहीं हैं। अब जो अनुभव में-समझ में ही नहीं आते, उन्हें लक्षण कहें तो उनके द्वारा आत्मा किस प्रकार पहचाना जा सकता है? उनके द्वारा छद्मस्थ अल्प ज्ञानी, आत्मा को-स्वयं को किस प्रकार पहचाने? नहीं पहचान सकता।

(२) कितने ही धर्म अनुभवगोचर हैं परन्तु सर्व सामान्य हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनेक धर्म अन्य द्रव्यों के साथ साधारण, अर्थात् समान हैं। अब उन धर्मों द्वारा अन्य द्रव्यों से भिन्न आत्मा कैसे जाना जा सकता है ? नहीं जाना जा सकता।

(३) कितने ही धर्म, परद्रव्य के निमित्त से हुए हैं। पुण्य-पाप आदि विभाव, परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। वस्तुत: तो वे उपाधिभाव हैं। अब उन्हें कहने से अन्तरंग शुद्ध आत्मस्वरूप किस प्रकार जाना जा सकता है ? नहीं जाना जा सकता।

इसलिए यह निश्चित हुआ कि ज्ञान कहने से ही छद्मस्थ ज्ञानी, आत्मा को पहचान सकता है क्योंकि ज्ञान, आत्मा का असाधारण गुण से निर्दोष / निर्बाध लक्षण है; इसलिए आत्मा के अधिकार में (प्रकरण में) ज्ञान ही प्रधान है।

यहाँ ज्ञान को आत्मा का लक्षण कहा है इतना ही नहीं, किन्तु ज्ञान को ही आत्मा कहा है क्योंकि अभेदविवक्षा में गुण-गुणी का अभेद होने से, ज्ञान है, सो ही आत्मा है। अभेदविवक्षा में चाहे ज्ञान कहो या आत्मा - कोई विरोध नहीं है; इसलिए यहाँ ज्ञान कहने से आत्मा ही समझना चाहिए।

आत्मा वस्तु है, वह देह से भिन्न, कर्म से भिन्न और अन्दर होनेवाले पुण्य-पाप आदि विकल्पों से भिन्न है। हिंसा का भाव या दया का भाव — इन दोनों से वस्तु / आत्मा भिन्न है। अब जिनसे भिन्न है, उन देहादिक से या राग से आत्मा कैसे जाना जा सकता है ? आहा...हा...! जानन... जानन... जाननस्वभाव — ऐसी जो चेतना, उस लक्षण से ही आत्मा ज्ञात होता है, अनुभव में आता है। आहा...हा...! ज्ञान की दशा को अन्तर में झुकाने से उसी क्षण

सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट होता है। भाई! यही विधि है; दूसरा कोई उपाय नहीं है। बीच में क्रियाकाण्ड आता अवश्य है परन्तु वह तो राग है, वह कोई उपाय नहीं है; उससे सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट नहीं होते। ऐसी बात है!

ज्ञान की दशा जहाँ अन्तर्मुख झुकी, उसी क्षण यह ज्ञानस्वभावी प्रभु है, वही मैं हूँ — ऐसी प्रतीति और अनुभव प्रगट होता है और वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान है तथा उसके साथ अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद शामिल ही होता है, यह विधि है; अन्य सब तो अनन्त बार किया है परन्तु उससे क्या? आत्मज्ञान के बिना पंच महाव्रत के परिणाम भी क्लेश-दु:खरूप ही होते हैं। अरे! इसने कभी अपने स्वरूप को यथार्थरूप से जानने की दरकार ही नहीं की है।

भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु स्वयं अन्तर्मुखाकार ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होता है, अनुभव में आता है; इसलिए ज्ञान को ही आत्मा कहा है। अभेद विवक्षा में ज्ञान, गुण और आत्मा, गुणी — ऐसा गुण-गुणी का भेद नहीं है; इसलिए अभेद विवक्षा में ज्ञान कहो या आत्मा कहो - कोई विरोध नहीं है, अविरोध है। ज्ञान ही आत्मा है — ऐसा कहकर ज्ञानस्वभाव में एकाग्र हो, वह आत्मा में ही एकाग्र हुआ है — ऐसा कहना है। वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई! वह अन्तर्मुखाकार ज्ञान द्वारा ही प्रगट होता है। यहाँ ज्ञान ही आत्मा — ऐसा कहकर गुण-गुणी का अभेदपना सिद्ध किया है।

टीका में अन्त में यह कहा गया है कि जो अपने में अनादि अज्ञान से होनेवाली शुभाशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति को दूर करके, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में प्रवृत्तिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, उस स्वसमयरूप

परिणमनस्वरूप मोक्षमार्ग में अपने को परिणमित करके, जो सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त हुआ है, और जिसमें कोई त्याग-ग्रहण नहीं है, ऐसे साक्षात्, समयसारस्वरूप, परमार्थभूत, निश्चल रहा हुआ, शुद्ध, पूर्ण ज्ञान को (पूर्ण आत्मद्रव्य को) देखना चाहिए।

देखो! हजार वर्ष पहले आनन्दकन्द निज ज्ञायकस्वरूप में रमनेवाले, अपने आनन्दस्वरूप में लीन होकर प्रचुर आनन्द के संवेदन की क्रीड़ा करनेवाले महामुनिवर आचार्य अमृतचन्द्रदेव की यह टीका है। मूल गाथाएँ भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव की है, उन पर यह टीका है। कहते हैं — शुभाशुभ उपयोगरूप प्रवृत्ति अनादि अज्ञान के कारण है। स्वस्वरूप की दृष्टि के बिना अज्ञान से पुण्य-पापरूप विभावों की उत्पत्ति होती है। पुण्य-पाप के भाव, चैतन्य के स्वभावरूप भाव नहीं हैं, विभाव है; और इस कारण अनात्मा है, परसमय है।

आनन्दकन्द प्रभु आत्मा में मौज करना, केलि करना, चारित्र है। 'चारित्रं खलु धम्मो' कहा है न? अन्दर स्वरूप में लीन होकर अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करना, वह चारित्र है, वह धर्म है और मोक्ष का कारण है। उस चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है, अर्थात् बिना सम्यग्दर्शन चारित्र नहीं हो सकता। यह दया, दान, व्रत आदि राग के परिणाम कहीं चारित्र है — ऐसा नहीं है। बापू! यह तो मिथ्यात्व और अस्थिरता से रहित अन्तरंग निर्मलदशा का नाम चारित्र है। ये पैसेवाले करोड़पति हैं न! इन्हें कहते हैं कि दया, दान में पैसा खर्च करने से चारित्र प्रगट हो — ऐसा उसका स्वरूप नहीं है।

प्रश्न : हाँ, परन्तु उस पैसे को ज्ञेय (परज्ञेय) कर डाले तो?

समाधान : उस पैसे को ज्ञेय (परज्ञेय) करे कहाँ से? अन्दर निजस्वरूप को ज्ञान में ज्ञेय किये बिना, निज ज्ञानानन्दस्वरूप का अनुभव किये बिना परपदार्थ को ज्ञेय (परज्ञेय) किस प्रकार करे? नहीं कर सकता। समयसार नाटक में आता है न कि —

स्वपरप्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं वचन भेद भ्रम भारी;
ज्ञेयदशा दुविधा परकासी, निजरूपा पररूपा भासी॥

बापू! स्व-स्वरूप का भान हुए बिना पर-पदार्थ परज्ञेयरूप से भासित नहीं होता।

अनादि विभ्रम जिसका मूल है — ऐसे पुण्य-पापरूप परसमय की प्रवृत्ति को दूर करके, निज चैतन्यस्वभाव के आश्रय से स्वानुभव प्रगट करके, निज स्वरूप में विशेष रमणता करना, वह स्वसमय प्रवृत्ति है और उसका नाम चारित्र है। निर्मल रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित होना, वह स्व-समय प्रवृत्ति है और वह धर्म है, मोक्षमार्ग है। यह तो सर्वज्ञदेव द्वारा प्रगट किये गये वीतरागमार्ग की अपूर्व बातें हैं, भाई! ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है।

वीतरागी परिणमनस्वरूप सम्पूर्ण मोक्षमार्ग है। वहाँ द्रव्य-गुण तो त्रिकाल है, परिणमन होता है, वह पर्याय है। सम्यग्दर्शन, पर्याय है; सम्यक्चारित्र, पर्याय है; केवलज्ञान, पर्याय है; और सिद्धदशा भी पर्याय है। पहले अज्ञानवश पुण्य-पाप के भाव उत्पन्न होते थे, वह परसमयप्रवृत्ति थी, वह परसमयरूप प्रवृत्ति दूर करके... पुण्य-पापरूप परसमयप्रवृत्ति को रखकर ऐसा नहीं, (अपितु) दूर करके, निज ज्ञानानन्दस्वरूप में एकाग्र होकर रमणता करे, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वसमयप्रवृत्ति है। यह स्वसमय

प्रवृत्तिरूप परिणमन मोक्षमार्ग है। अब द्रव्य क्या? गुण क्या? और उसका परिणमन क्या? — इसका कुछ पता नहीं पड़े, वह क्या करे? चार गति में भटककर मरेगा, दूसरा क्या होगा?

निजस्वरूप में रमणता करनेरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन होता है, वह मोक्षमार्ग है। भाई! यह भगवान की ओम् ध्वनि निकली, उसमें आयी हुई बात है। आता है न कि —

मुख ओम्कार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे
रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारै।

भगवान की ओम्ध्वनि सुनकर भगवान गणधरदेव, आगम की रचना करते हैं। उस आगम का सेवन करके भव्य जीव संशय का निवारण करते हैं, अर्थात् सम्यग्दृष्टि होते हैं। आहा...हा...! उस आगम में यह आया है कि निर्मल पवित्र ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु स्वयं है। उसकी प्रतीति, उसका ज्ञान और उसमें रमणता — बस, इस परिणमनस्वरूप मोक्ष का मार्ग है। साथ में सहचर जो राग है, वह मोक्षमार्ग नहीं; उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहते हैं। वह राग है, वह वास्तव में तो परसमय है; धर्मात्मा उसे परसमय ही जानता है। आहा...! ऐसे स्व-स्वरूप की दृष्टि-ज्ञानपूर्वक उसी में रमणता करते-करते सम्पूर्ण स्थिरता करके वे धर्मात्मा केवलज्ञान को प्राप्त होते हैं, यही मार्ग है; क्रियाकाण्ड मार्ग नहीं है। कहा है न कि —

एक होय तीन काल में परमारथ का पंथ
प्रेरे जो परमार्थ को वह व्यवहार समंत॥

मृग की नाभि में कस्तूरी होती है परन्तु मृग उसे नहीं देखता, बाहर ढूँढ़ता है; उसी प्रकार स्वयं अन्दर तीन लोक का नाथ आनन्दकन्द प्रभु ज्ञानानन्द से भरपूर भगवान है परन्तु अज्ञानी उसे नहीं देखता।

अरे! पुण्य-पाप के भाव और उसके फल में यह बाहर की जो धूल / धन-सम्पत्ति आदि प्राप्त होती है, उसमें भ्रमित हो गया है।

यहाँ कहते हैं कि उस अनादि भ्रम को मिटाकर अन्दर चिदानन्दस्वरूप भगवान स्वयं है, उसके आश्रय से स्व-समय प्रवृत्ति द्वारा मोक्षमार्गरूप परिणमन करके सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को जो प्राप्त करता है, उसे सम्पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होता है। आहा...हा...! कैसा है केवलज्ञान? एक समय में युगपत् तीन काल-तीन लोक के सर्व पदार्थों को जो जान लेता है। आ...हा...! उस पूर्ण स्वरूप जो प्रगट हुआ, उसमें कुछ ग्रहण-त्याग नहीं है। स्वरूप का ग्रहण और राग का त्याग-ऐसा कुछ अब नहीं रहा। आ...हा...! ऐसे साक्षात् समयसारस्वरूप, परमार्थभूत, निश्चल, शुद्ध आत्मा को देखना / अनुभवना है।

साक्षात् समयसारस्वरूप अर्थात् क्या? अन्दर त्रिकाली आत्मा तो त्रिकाल जिनस्वरूप-समयसारस्वरूप ही है परन्तु जैसा त्रिकाल शक्तिरूप है, वैसा वर्तमान पर्यायरूप प्रगट हुआ, केवलज्ञान-केवलदर्शनरूप परिणमित हुआ, अनन्त चतुष्टयरूप हुआ, वह साक्षात् समयसारस्वरूप है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण की पूर्ण निर्मलपर्याय प्रगट हुई, उसे साक्षात् समयसारस्वरूप कहते हैं। अन्दर शक्तिरूप है, वह वर्तमान व्यक्त हुआ, उसे साक्षात् समयसारस्वरूप हुआ कहते हैं। समयसार नाटक में आता है न कि —

घट घट अन्तर जिन वसै, घट घट अन्तर जैन,
मत मदिरा के पान सौ, मतवाला समूझे न॥

अन्दर शक्तिरूप से तो भगवान जिनस्वरूप ही स्वयं है, न हो

तो प्रगटे कहाँ से ? क्या बाहर से प्रगट होता है ? बापू ! यह तो शक्तिरूप है, वह प्रगट होता है। यह प्रगट होता है, वह इस बाहर के वेष से या क्रियाकाण्ड से नहीं; वह तो निर्मलानन्द का नाथ त्रिकाल प्रभु स्वयं अन्दर है, उसकी एकाग्रता और रमणता करते-करते पूर्ण स्थिरता प्राप्त करके पूर्ण प्रगट होता है। अरे ! परन्तु मिथ्यामतरूपी मदिरा के सेवन से जगत के पागल लोग यह नहीं समझते हैं।

छोटी पीपल के दाने में अन्दर चौसठ पहरी चरपराहट भरी हुई है, वह घोंटने से बाहर प्रगट होती है; अन्दर शक्ति पड़ी है, उसकी व्यक्ति होती है; उसी प्रकार भगवान आत्मा में अनन्त चतुष्टयस्वरूप शक्ति अन्दर सहज पड़ी है, उसे अन्तर एकाग्रता के-अन्तर रमणता के अभ्यास द्वारा घोंटने से केवलज्ञान आदि अनन्त चतुष्टयरूप प्रगट होती है, यह परमार्थ है। पर की सेवा करना और दया करना, वह परमार्थ नहीं है। अन्दर परमार्थभूत निजस्वरूप है, उसे अन्तर अवलम्बन से प्रगट करने का नाम परमार्थ है। वरना परद्रव्य का तो तू क्या कर सकता है ? किसी द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य में तो प्रवेश ही नहीं है।

ऐसे साक्षात्, समयसारस्वरूप, परमार्थभूत, निश्चल रहा हुआ, शुद्ध, पूर्ण ज्ञान को (पूर्ण आत्मद्रव्य को) देखना चाहिए। वहाँ 'देखना' तीन प्रकार से समझना चाहिए।

(१) शुद्धनय का ज्ञान करके पूर्ण ज्ञान का श्रद्धान करना, सो प्रथम प्रकार का देखना है। वह अविरत आदि अवस्था में भी होता है।

देखो ! भगवान आत्मा को देखने के तीन प्रकार में से यह

पहला प्रकार कहा है। शुद्धनय का विषय पूर्णानन्दस्वरूप प्रभु त्रिकाली आत्मा है, उसे अभेदविवक्षा में शुद्धनय कहते हैं। त्रिकाली शुद्ध एक चिद्रूपस्वरूप आत्मा को अभेद से शुद्धनय कहते हैं। समयसार, गाथा 11 में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने त्रिकाल सत्यार्थ भूतार्थ शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को शुद्धनय कहा है। **भूदत्थो देसिदो दु शुद्धनओ** ऐसी वहाँ गाथा है। यहाँ कहते हैं कि शुद्धनय का, अर्थात् त्रिकाल शुद्ध ज्ञानानन्द निर्मलानन्द प्रभु आत्मा का ज्ञान करके, पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप का श्रद्धान करना, वह सम्यग्दर्शन –यह पहले प्रकार का देखना है। प्रथम शुद्धनय जो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य है, उसे जानना, क्योंकि जाने बिना श्रद्धान किसका करे? इसलिए प्रथम त्रिकाली शुद्ध चिदानन्द चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर उसकी प्रतीति करना कि पूर्ण चिदानन्द घन अनन्त शक्तियों का पिण्ड प्रभु मैं यह आत्मा हूँ — इसका नाम सम्यग्दर्शन है और यह पहले प्रकार का देखना है।

यह 'देखना' चौथे-पाँचवें गुणस्थान में होता है। श्रेणिक राजा क्षायिक समकिती अविरतदशा में थे; उन्हें व्रत-चारित्र नहीं था, चौथे गुणस्थान में थे, तीर्थङ्करनामकर्म बाँधा है, अभी पहले नरक में हैं, वहाँ से निकलकर आगामी चौबीसी के प्रथम तीर्थङ्कर होंगे। भाई! ऐसी सम्यगदर्शन की कोई अचिन्त्य महिमा है। त्रिकाली भूतार्थस्वभाव का ज्ञान-श्रद्धान-अनुभव चौथे-पाँचवें और छठवें गुणस्थान में होता है। आचार्यश्री अमृतचन्द्रस्वामी की टीका का पण्डित जयचन्दजी ने यह अर्थ किया है। चौथे गुणस्थान में भी शुद्धनय, अर्थात् शुद्ध विज्ञानघनस्वभाव आत्मा का अनुभव होकर प्रतीति होती है और आत्मस्वरूप की विशेष लीनता होकर स्वरूप

की शान्ति की वृद्धि होती है, वह श्रावक का पाँचवाँ गुणस्थान है। वहाँ अभी अप्रमत्तदशा नहीं है।

(२) ज्ञान-श्रद्धान होने के बाद बाह्य सर्व परिग्रह का त्याग करके उसका (पूर्ण ज्ञान का) अभ्यास करना, उपयोग को ज्ञान में ही स्थिर करना, जैसा शुद्धनय से अपने स्वरूप को सिद्ध-समान जाना है-श्रद्धान किया था वैसा ही ध्यान में लेकर चित्त को एकाग्र-स्थिर करना, पुनः पुनः उसी का अभ्यास करना, सो दूसरे प्रकार का देखना है। इस प्रकार का देखना अप्रमत्तदशा में होता है। जहाँ तक उस प्रकार के अभ्यास से केवलज्ञान उत्पन्न न हो, वहाँ तक वह अभ्यास निरन्तर रहता है। यह, देखने का दूसरा प्रकार हुआ।

ज्ञान-श्रद्धान होने के बाद अन्दर में विकल्प का त्याग और बाहर में वस्त्र के टुकड़े का भी त्याग करके पूर्ण ज्ञानस्वरूप का अभ्यास करते हैं, उपयोग को स्वरूप में ही स्थिर करते हैं। आहा...हा...! वे निज आत्मबाग में अतीन्द्रिय आनन्द की क्रीड़ा करते हैं। उन्हें समस्त बाह्य परिग्रह छूट जाता है। निराकुल आनन्द में झूलनेवाले वीतरागी सन्त मुनिवर को बाहर में वस्त्र भी नहीं और अन्तरंग में विकल्प भी नहीं। बापू! दूसरी चीज तो क्या; वस्त्र के धागे का भी परिग्रह मुनिराज को नहीं हो सकता है — ऐसा ही मुनिदशा का सहज स्वरूप है। इससे विपरीत माननेवाला मूढ़ मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न : हाँ, परन्तु वस्त्र छोड़ना तो पड़ता है न?

उत्तर : छोड़ना क्या पड़ता है? निज ज्ञानानन्दस्वरूप में लीन होकर उसी में रमणता करने से वस्त्रादि सर्व परिग्रह सहज छूट जाता है। रागरहित आनन्द की छठवीं भूमिका की दशा ही ऐसी

सहज होती है कि वस्त्रादि स्वयं के कारण सहज छूट जाते हैं। परवस्तु का ग्रहण-त्याग वास्तव में आत्मा में कहाँ है ? आत्मा में परवस्तु का तो त्याग-उपादान शून्यत्व है। आत्मा, पर के त्याग -ग्रहण से शून्य है — ऐसा अलौकिक मार्ग वीतराग सर्वज्ञदेव का ! समझे उसका तो क्या कहना ! वह तो निहाल हो जाता है।

अरे ! लोगों ने कुछ का कुछ माना-मनवाया है ! क्या हो ? प्रभु का विरह पड़ा ! यहाँ केवलज्ञान की उत्पत्ति रही नहीं, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान भी इस काल में लुप्त हो गये और लोगों ने विवाद खड़ा किया ! सन्त-दिगम्बर मुनिवर-केवली के पथानुगामी कहते हैं — पूर्ण ज्ञानानन्द प्रभु आत्मा की अन्तरदृष्टि और अनुभव के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शनपूर्वक स्वरूप में विशेष-विशेष लीनता होना चारित्र है, वह विशेष तो सातवीं भूमिका से होता है। अप्रमत्तदशा में चारित्र की उग्रता होती है। पूर्ण स्थिरता चौदहवें गुणस्थान में होती है, यह बात अभी यहाँ नहीं है, यहाँ तो चारित्र की उग्रता अप्रमत्तदशा में होती है — ऐसी बात है। मुनिराज छठवें गुणस्थान में हों, तब पञ्च महाव्रत आदि का विकल्प उत्पन्न होता है, वह प्रमत्तदशा है; वहाँ तक अप्रमत्तदशा गिनने में नहीं आयी है। चौथे, पाँचवें, छठवें में ज्ञान-श्रद्धान और यथासम्भव स्थिरता होती है। तत्पश्चात् बाह्य परिग्रह का त्याग करके उपयोग को ज्ञान में स्थिर करता है, वह दूसरे प्रकार का देखना है — ऐसा मार्ग है। अभी तो देखने को मिलना दुर्लभ हो गया है। अरे ! लोगों ने मार्ग को कुचल डाला है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा को तीन प्रकार से देखना। देखना अर्थात् अन्तर्मुख होकर अनुभव करना; जिससे आत्मप्राप्ति हो।

आत्मा नित्यानन्द प्रभु त्रिकाली शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी है। उसे छोड़कर अन्य परिग्रह में सावधानरूप से प्रवर्तना, वह संसार परिभ्रमण का कारण है। शुद्ध चैतन्यमय निज परमात्मस्वरूप में सावधान न होकर व्रत, तप, भक्ति आदि के राग के परिणाम में सावधानरूप से प्रवर्तना, वह अन्य परिग्रह है। यह शरीर, मन, वाणी, धन, सम्पत्ति इत्यादि तो कहीं दूर की चीज हो गयी। यहाँ तो इसकी पर्याय में जो व्रत-भक्ति आदि के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वह अन्य वस्तु है — अन्य परिग्रह है। राग में सावधानरूप से प्रवर्तना और उसके आचरण में-पालन में रुके रहना, वह मिथ्याभाव है। भाई! अरे! परन्तु इसने राग की ममता के कारण अन्दर ज्ञायकस्वभाव से भरपूर आनन्दसागर प्रभु स्वयं है, उसे खो दिया है। यहाँ कहते हैं — शुद्धनयस्वरूप अन्दर त्रिकाली भूतार्थ भगवान जिनस्वरूप विराजमान है, उसे स्व-संवेदन में जानना, वेदन करना, अनुभव करना, वह प्रथम नम्बर का देखना है, वह चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में होता है।

अन्दर जानने-देखनेवाला भिन्न स्वरूप है, उसे जान और देख — ऐसी भगवान की आज्ञा है। यह देह तो क्षण में फूँ... होकर उड़ जाएगी, यह तो संयोग है, यह कहाँ तेरी चीज है? तेरी चीज तो अन्दर भिन्न एक ज्ञायकस्वभावरूप त्रिकाल है। उसे जान और देख तथा फिर सर्व परिग्रह छोड़कर, एक ज्ञायकभाव में ही स्थिर होने का अभ्यास कर; उसी में उग्ररूप से लीन होकर रमणता कर। 'निज पद रमै सो राम कहिये' अन्तर स्थिरता का अभ्यास करके स्वरूप में रमे उसे राम, अथवा आत्मा कहते हैं, वह स्वसमय है। समयसार नाटक में आता है न कि **चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्ध समान सदा पद मेरौ**।

आहा...हा... ! प्रथम शुद्धनय द्वारा निज स्वरूप को सिद्ध समान जाना-श्रद्धान किया था, वैसा ही ध्यान में लेकर चित्त को-उपयोग को वही स्थिर कर दे, जड़ दे। यह दूसरे प्रकार का देखना है। यह देखना ऊपर की भूमिका में — अप्रमत्तदशा में होता है। जब तक ऐसे अभ्यास से केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक यह अभ्यास निरन्तर रहता है। देखो! अन्दर अभ्यास करके यह करने योग्य है; बाकी अशुभ मिटाकर शुभ में तू रुका रहे, यह तो कुछ नहीं, यह सब तो व्यर्थ है।

भाई! तेरे स्वरूप की अनन्त समृद्धि का तुझे पता नहीं है। बापू! उसकी महिमा की क्या बात! एक बार उसे ज्ञान-श्रद्धान में ले तो निहाल हो जाये — ऐसी चीज है; और फिर अन्दर एकाग्रता के अभ्यास द्वारा उपयोग को अन्दर स्थिर कर दे, उसका तो क्या कहना! वह तो केवलज्ञान को ला दे — ऐसी अपार अचिन्त्य उसकी महिमा है, इसका नाम चारित्र और इसका नाम दिगम्बर मुनिदशा है। जहाँ पञ्च महाव्रत का विकल्प भी छूट जाये — ऐसी निर्विकल्प अप्रमत्तदशारूप मुनिदशा होती है, वह दूसरे नम्बर का देखना है। इसके बिना व्रत, तप, भक्ति इत्यादि सब धूलधानी जैसे हैं। व्रत, भक्ति का अभ्यास करना — ऐसा नहीं परन्तु जब तक केवलज्ञान न हो, तब तक यह अभ्यास करना, अर्थात् उपयोग को शुद्ध निरंजन पूर्ण ज्ञान में स्थिर कर देने का अभ्यास करना — ऐसा कहते हैं। यह देखने का दूसरा प्रकार कहा।

यहाँ तक तो पूर्ण ज्ञान का शुद्धनय के आश्रय से परोक्ष देखना है। और

(३) जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है, तब साक्षात् देखना

है, सो यह तीसरे प्रकार का देखना है। उस स्थिति में ज्ञान सर्व विभावों से रहित होता हुआ, सबका ज्ञाता-दृष्टा है; इसलिए यह तीसरे प्रकार का देखना पूर्ण ज्ञान का प्रत्यक्ष देखना है।

शुद्धनय के आश्रय से परोक्ष देखना होता है क्योंकि श्रुतज्ञान अमूर्तिक आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं जानता। आनन्द का वेदन प्रत्यक्ष हुआ है परन्तु अमूर्तिक प्रदेशों को श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष नहीं करता। जैसे अन्ध पुरुष मिश्री खाये, तब उसे स्वाद का प्रत्यक्ष वेदन आता है परन्तु मिश्री की डली प्रत्यक्ष नहीं दिखती; वैसे ही शुद्धनय के आश्रय से परोक्ष देखना होता है। जब केवलज्ञान होता है, तब साक्षात् देखना होता है, यह तीसरे प्रकार का देखना है। इस स्थिति में ज्ञान, शुद्ध निर्मल निरंजन उपयोगरूप होता हुआ सर्व का प्रत्यक्ष देखनेवाला-जाननेवाला है; इसलिए यह तीसरे प्रकार का देखना, वह ज्ञान का प्रत्यक्ष देखना है। यहाँ चैतन्य ज्योति सर्व को सम्पूर्ण प्रत्यक्ष करती हुई ज्वाजल्यमान प्रगट हो जाती है, वह मोक्षदशा है। इस प्रकार पूर्ण ज्ञान का प्रत्यक्ष देखना, वह तीसरे प्रकार का देखना है। आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव है, वह सर्वज्ञपना अन्तर एकाग्रता का उग्र दृढ़ अभ्यास करके प्रगट करना — ऐसा उपदेश है। ●●

अवश्य सिद्धि होगी

आकाश-पाताल भले एक हो जाएँ परन्तु भाई! तू अपने ध्येय को मत चूकना, अपने प्रयत्न को मत छोड़ना। आत्मार्थ को पोषण मिले, वह कार्य करना। जिस ध्येय पर आरूढ़ हुआ, उसे पूर्ण करना, अवश्य सिद्धि होगी। *- पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन*

पर से भिन्न शुद्धज्ञान के अनुभव का काव्य कहते हैं —

(शार्दूलविक्रीड़ित)

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥२३५॥

अर्थ : अन्य द्रव्यों से भिन्न, अपने में ही नियत, पृथक् वस्तुपने को धारण करता हुआ (वस्तु का स्वरूप सामान्य -विशेषात्मक होने से, स्वयं भी सामान्य-विशेषपने को धारण करता हुआ) ग्रहण-त्याग रहित, यह अमल (रागादि मल से रहित) ज्ञान इस प्रकार अवस्थित (निश्चल हुआ) अनुभव में आता है कि...

शरीर, मन, वाणी, कर्म इत्यादि परद्रव्यों से भिन्न अपने में ही नियत पृथक् वस्तुरूप का धारक ज्ञान निश्चल रहता हुआ, अनुभव में आता है। आहा...हा...! वस्तु स्वयं परपदार्थों से भिन्न चीज है, चैतन्य सत्ता से भरपूर भगवान स्वयं अन्य वस्तु से भिन्न है, स्व-स्वरूप में नियत स्वयं परद्रव्य से भिन्न है। वस्तु का स्वरूप जैसे सामान्य-विशेषात्मक है, वैसे सामान्य-विशेषात्मकपने को धारण करता हुआ, स्वयं ग्रहण-त्याग रहित पदार्थ है। पर का ग्रहण करना या छोड़ना उसमें नहीं है तथा वह रागादि मल से रहित है।

देखो! पहले पर से भिन्न कहा और अब ज्ञान, राग से रहित / भिन्न है — ऐसा कहा है। 'अमल' ऐसा कहा है न? भाई! यह तो पर से और राग से विमुख होकर स्वभावसन्मुख होना और भेदज्ञान प्रगट करना — ऐसी बात है। अनादि से परवस्तु के साथ एकत्व माना है, वह भ्रम है, झूठी कल्पना है; उससे भिन्न पड़कर स्वयं अन्दर जैसा और जितना है, वैसा और उतना स्वीकार करना — जानना और मानना, वह भेदविज्ञान है तथा वह कर्तव्य है, धर्म है।

(रागादि मल से रहित) ज्ञान इस प्रकार अवस्थित (निश्चल हुआ) अनुभव में आता है कि... जिस प्रकार आदि-मध्य-अन्तरूप विभागों से रहित — ऐसी सहज फैली हुई प्रभा द्वारा दैदीप्यमान — ऐसी इसकी शुद्धज्ञानघनरूप महिमा नित्य उदित रहे, (शुद्धज्ञान के पुञ्जरूप महिमा सदा उदयमान रहे)।

भगवान आत्मा सहजानन्द-नित्यानन्द त्रिकाल ज्ञानस्वरूप प्रभु है। अब वह है, है और है; उसकी आदि क्या? मध्य क्या? अन्त क्या? आहा...हा...! ऐसी अनादि-अनन्त सहज फैली हुई चैतन्य प्रभा द्वारा दैदीप्यमान — ऐसी उसकी शुद्धज्ञानघनरूप महिमा नित्य उदित रहे। आहा...हा...! जैसे सर्व पंखुड़ियों से गुलाब खिल जाता है, वैसे अनन्त शक्ति से आत्मा पूर्ण खिल गया है, शक्ति सहज थी, वह पूर्ण विस्तृत हुई; अब उसकी शुद्धज्ञानघनरूप महिमा सदा उदयमान रहेगी — ऐसा कहते हैं। शुद्धदशा पूर्ण कला से प्रगट हुई, वह हुई, अब वह दशा सादि अनन्त अविचल -कायम रहेगी। केवलज्ञान और मोक्ष की दशा हुई, वह अब बदलेगी नहीं, अब वह अवतार नहीं लेगा। भक्तों को कष्ट पड़े

और भगवान अवतार ले — ऐसा होने योग्य नहीं है — ऐसा केवलज्ञान और मोक्ष का स्वरूप नहीं है। मोक्षदशा तो नित्य उदयमान है।

भावार्थ - ज्ञान का पूर्ण रूप सर्व को जानना है। वह जब प्रगट होता है, तब सर्व विशेषणों सहित प्रगट होता है; इसलिए उसकी महिमा को कोई बिगाड़ नहीं सकता, वह सदैव उदयमान रहती है।

ज्ञान का पूर्ण रूप सर्व को जानना है, अनन्त-अनन्त गुण रिद्धि-समृद्धि से भरपूर भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी प्रभु है, तीन काल-तीन लोक को युगपत् एक समय में जाने — ऐसी उसकी सामर्थ्य है। वह सामर्थ्य जब प्रगट होती है, तब सर्व विशेषणों सहित प्रगट होती है। जब केवलज्ञान प्रगट होता है, तब सर्वरूप पूर्ण प्रगट होता है। केवलज्ञान प्रगट होने के साथ ही पूर्ण आनन्द, पूर्ण वीर्य, पूर्ण शान्ति, पूर्ण प्रभुता, पूर्ण स्वच्छता इत्यादि शक्तियों की पूर्ण व्यक्तदशा प्रगट होती है — इसका नाम केवलज्ञान और पूर्णदशा है; इसलिए कहते हैं — उसकी महिमा को कोई आँच नहीं आती, उसकी महिमा को कोई बिगाड़ नहीं सकता। पूर्ण वीतरागता होकर केवलज्ञान हुआ, वहाँ अनन्त वीर्य भी प्रगट हुआ; इसलिए अब उसकी महिमा अबाधितरूप से सदा उदयमान रहती है। अब उसे अवतार लेना पड़े — ऐसा कभी नहीं है।

भगवान आत्मा अन्दर प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप वस्तु प्रभु है, उसके आंशिक ज्ञान-श्रद्धान आनन्द प्रगट हो, वह उपाय है और पूर्ण ज्ञान -श्रद्धानानन्द की दशा प्रगट हो, वह उपेय अर्थात् उपाय का फल है। यह दया, दान, व्रत आदि व्यवहाररत्नत्रय, उपाय और सिद्धपद,

उपेय — ऐसा नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय को उपाय कहें, वह तो निमित्त का–व्यवहार का कथन है; वह व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है परन्तु भाई! वह व्यवहार आदर किया हुआ प्रयोजनवान नहीं है, वह आदरणीय नहीं है। भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु एक ही आश्रय करने योग्य है और उसके आश्रय से आंशिक ज्ञान–श्रद्धान चारित्र प्रगट होता है, वह वास्तविक उपाय है और उसकी पूर्णता, वह उपेय अर्थात् मोक्ष है, यह दिव्यध्वनि का सार है।

यहाँ कहते हैं कि उपाय द्वारा उपेय, अर्थात् पूर्ण केवलज्ञानदशा और मोक्ष की दशा प्रगट हो, वह निराबाध सदा सादि–अनन्त काल उदयमान रहती है। उसमें कभी कोई आँच–हीनता नहीं आती। मुक्त जीव को भक्तों का कष्ट मिटाने का बोझा रहे और वह अवतार धारण करे, यह मान्यता मिथ्या है क्योंकि परम वीतराग परमेश्वर के लिए यह विकल्प सम्भव नहीं है।

जैसा पर से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा कहा — ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का आत्मा में धारण करना - वही ग्रहण करने योग्य सर्व ग्रहण किया और त्यागने योग्य सर्व त्याग दिया — ऐसे अर्थ का काव्य कहते हैं —

अब, ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का आत्मा में धारण करना ही ग्रहण योग्य सर्व ग्रहण किया और त्यागने योग्य सर्व त्याग किया — ऐसे अर्थ का काव्य कहते हैं। जैसे श्रीफल अन्दर लालिमारहित सफेद मीठा गोला है, वैसे भगवान आत्मा अन्दर पुण्य–पाप की लालिमारहित चैतन्य का अमृतमय गोला है। आहा...! ऐसे निजस्वरूप का अन्तर अनुभव करके उसी में लीन–स्थिर हुआ, उसने ग्रहण करनेयोग्य सर्व ग्रहण किया और त्यागने योग्य जो

(महाव्रतादि का) विकल्प था, उसे सहज त्याग दिया। इस अर्थ का अब आचार्यदेव कलश कहते हैं।

(उपजाति)

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्
तथात्तमादेयमशेषतस्तत्।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः
पूर्णस्य संधारणमात्मनीह॥२३६॥

अर्थ : जिसने सर्व शक्तियाँ समेटी हैं (अपने में लीन की हैं) — ऐसे पूर्ण आत्मा का आत्मा में धारण करना, वही छोड़ने योग्य सब छोड़ दिया और ग्रहण करने योग्य सब ग्रहण किया है।

पहले ज्ञानादि शक्तियाँ राग में रुककर खण्ड-खण्डरूप से खण्डित होती थीं, वह अब वहाँ से सिमटकर जहाँ स्वस्वरूप में -चैतन्यस्वरूप में लीन की, वहाँ ग्रहण योग्य सब ग्रहण कर लिया। यह सम्यग्दर्शनसहित सातवें गुणस्थान की बात है। अभी छठवें गुणस्थान में विकल्प है परन्तु जहाँ अन्तरस्वरूप में लीन -तल्लीन हुआ कि तत्काल ही ग्रहण योग्य सर्व ग्रहण हुआ और त्यागने योग्य जो विकल्प है, उसका सहज ही त्याग हो गया। भाई! पुण्य का भाव भी त्यागने योग्य है, दु:खरूप है। भाई! सम्यग्दर्शन के बिना इसने अनन्त बार मुनिपना धारण किया और अनन्त बार स्वर्ग गया परन्तु उससे क्या? स्वस्वरूप के श्रद्धान, ज्ञान और उसमें रमणता-लीनता हो, वही मुख्य है, वही सब है; बाकी पुण्य-पाप में लीन होकर प्रवर्तना — तो स्वस्वरूप का घात है, आत्मघात है। छहढाला में आता है कि —

मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रीवक उपजायो
पै निज आत्मज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

यह महाव्रत, समिति और गुप्ति — यह सब शुभराग दुःख है, बापू!

प्रश्न : हाँ, परन्तु इसके द्वारा बाहर में प्रभावना तो होती है न?

उत्तर : प्रभावना? क्या प्रभावना? प्रभावना तो अन्तर आत्मा में होती है या बाहर में होती है? अन्दर निराकुल आनन्द की व्यक्तता हो, उसे प्रभावना कहते हैं। बाहर में प्रभावना कौन कर सकता है? अरे! तत्सम्बन्धी शुभराग आता है, वह भी स्वरूप की हिंसा है। राग की उत्पत्ति होना हिंसा है — ऐसा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है।

आत्मा आनन्दकन्द प्रभु है, उसमें ही रमण करना, वह चारित्रदशा है। अहो! धन्य वह दशा, जिसमें भेद का विकल्प भी छूट गया — ऐसी अत्यन्त निर्विकल्पदशा प्रगट हुई, वहाँ ग्रहण योग्य सर्व ग्रहण किया और छोड़ने योग्य सर्व छोड़ा। आहा...हा...! स्वयं अन्दर जिनस्वरूप है, उसमें अन्तर एकाग्र होकर लीन होने से जिनदशा प्रगट होती है। यह तो प्राप्त की प्राप्ति है भाई! और उसकी यही विधि है, बापू! जिनदशा कहीं बाहर से नहीं आती है।

आहा...! अन्दर स्वयं जिनस्वरूप ही है परन्तु अन्तर एकाग्र होकर अपने स्वरूप को ही स्वीकार नहीं करते, उन पागलों को उनकी प्राप्ति नहीं होती। क्या हो सकता है?

वैसे तो आबाल-गोपाल सबको पूर्णानन्द प्रभु आत्मा अपने ज्ञान में ज्ञात हो रहा है — यह बात आचार्यदेव ने गाथा 17-18 में स्पष्ट की है परन्तु क्या हो? अज्ञानी की दृष्टि वहाँ नहीं है; उसकी

नजर पर और पर्याय के प्रति है। आहा...हा...! ऐसे पागल को निज स्वरूप जो जिनस्वरूप, उसकी प्राप्ति नहीं होती है।

यहाँ कहते हैं कि अपने त्रिकाली ध्रुव चैतन्यराजा को जानकर उसका अनुभव किया और उसी में लीन हुआ, उसने ग्रहण-योग्य सर्व ग्रहण किया और छोड़ने-योग्य सर्व छोड़ा। अहो! धन्य वह मुनिदशा और धन्य वह अवतार! प्रचुर स्वसंवेदन में लीन हुए वे महामुनिराज तो बादशाहों के भी बादशाह हैं। अपनी चैतन्य लक्ष्मी से सर्व शोभायमान हैं। वरना जो बाहर की सम्पत्ति में लीन हैं, वे तो रंक हैं, भिखारी हैं। उन्हें शास्त्र में 'वराका' कहा है।

भावार्थ : पूर्ण ज्ञानस्वरूप, सर्व शक्तिओं के समूहरूप जो आत्मा है, उसे आत्मा में धारण कर रखना — वही त्यागनेयोग्य जो कुछ था, वह सब त्याग दिया और ग्रहण करने योग्य जो कुछ था, वह सब ग्रहण किया है। यही कृतकृत्यपना है।

आत्मा पूर्ण ज्ञानघन प्रभु अनन्त शक्तियों का ध्रुवधाम है, उसे अन्तर में धारण करके, वही रमना-स्थिरता करना, वही ग्रहण करने योग्य सर्व ग्रहण हो गया और त्याग करने योग्य सर्व त्याग दिया। तात्पर्य यह है कि वही कृतकृत्यता है। स्व-स्वरूप के आश्रय द्वारा जिसने स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान और रमणता-लीनता-स्थिरता परिपूर्ण हुए, उसे अब कुछ करना नहीं रहा, वह अब कृतकृत्य हुआ। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल परिपूर्ण है, ऐसी वस्तु तो पूर्ण ज्ञानानन्द स्वभाव ही है; उसकी पर्याय में जहाँ पूर्ण व्यक्ति हुई, वहाँ कृतकृत्यपना हुआ, उसे अब कुछ ग्रहण-त्याग नहीं रहा। सर्व कार्य सिद्ध हो गया, वहाँ अब करना क्या रहा? कुछ नहीं रहा। यही कृतकृत्यपना है। ●●